दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९७ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २६ अंक नं० १२

जीव अपनी भूल से ही दुःखी है

निहचै निहारत ही आतमा अनादिसिद्ध,
आप निज भूलिहीतैं भयौ विवहारी है।
ज्ञायक सकति जथाविधि सो तौ गौप्य दई,
प्रगट अज्ञानभाव सदा विसतारी है॥
अपनौ न रूप जानै औरहीसौं और मानै,
ठानै भवखेद निज रीति न सँभारी है।
ऐसै तो अनादि कहौ कहा साध्य सिद्धि अब,
नैक हु निहारौ निधि चेतना तुम्हारी है॥

चारित्र
ज्ञान
दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अप्रैल : १९७१ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (३१२) एक अंक २५ पैसा [चैत्र : २४९७

पूज्य श्री कानजीस्वामी का मंगल-विहार

सोनगढ़:—चैत्र शुक्ला पूर्णिमा तारीख १० अप्रैल के प्रात:काल सौराष्ट्र के कुछ नगरों एवं राजस्थान की राजधानी जयपुर नगर में धर्मप्रभावना हेतु पूज्य स्वामीजी का मंगल विहार हुआ। सोनगढ़ से विदा होकर स्वामीजी प्रात: ७.०० बजे लाठी नगर में पधारे, जहाँ उनका हर्षोल्लास सहित भावभीना स्वागत किया गया।

पूज्य स्वामीजी दो दिन (तारीख १० तथा ११ अप्रैल) लाठी में रहे और लाठी से जैतपुर पधारे। जैतपुर की जनता ने भी गुरुदेव का हार्दिक स्वागत किया। जैतपुर में (तारीख १२ तथा १३ अप्रैल) दो दिन रहे और वहाँ से एक दिन श्री गिरनारजी सिद्धक्षेत्र की वंदना को पधारे। पूज्य बहिनश्री-बहिन भी गिरनारजी पहुँच गई थी। वहाँ से पूज्य स्वामीजी तारीख १४ के प्रात:काल मालीयाहाटीना पधारे और दो दिन (तारीख १४ तथा १५ अप्रैल) रहे। वहाँ से चलकर तारीख १६ के प्रात: स्वामीजी पोरबंदर पहुँच गये हैं, जहाँ ११ दिन (तारीख १६ अप्रैल से २६ तक) रहेंगे। पोरबंदर में पूज्य स्वामीजी जन्म-जयंती बड़ी धूमधाम से वैशाख शुक्ला दोज (तारीख २६-४-७१) को मनायी जायेगी। जन्म-जयंती की तैयारियाँ चल रही हैं। तारीख २७ के प्रात:काल पोरबंदर से पूज्य स्वामीजी गोंडल पधारेंगे और (तारीख २७ तथा २८ अप्रैल) दो दिन विराजेंगे; तत्पश्चात् तारीख २९ अप्रैल के प्रात:काल राजकोट शहर पहुँचेंगे जहाँ १५ मई तक विराजेंगे। तारीख १६ मई के प्रात:काल पूज्य स्वामीजी विमान द्वारा जयपुर पधारेंगे। जयपुर में तारीख १५ मई से ४ जून तक विद्यार्थियों के लिये ग्रीष्मकालीन शिक्षणशिविर का आयोजन श्री पूरनचंदजी गोदीका (श्री टोडरमल स्मारक भवन) की ओर से किया गया है। जयपुर से पूज्य स्वामीजी तारीख ६ जून को भावनगर पधारेंगे जहाँ (तारीख ६ से ९ जून तक) ४ दिन का प्रोग्राम है। इसप्रकार पूज्य श्री कानजीस्वामी के द्वारा वर्तमान में जगह-जगह जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना हो रही है।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

अप्रैल : १९७१ ☆ चैत्र : वीर नि० सं० २४९७, वर्ष २६वाँ ☆ अंक : १२

भगवान महावीर

—: संपादकीय :—

तीर्थंकर भगवान... मात्र भारत की ही नहीं परंतु समस्त विश्व की महान विभूति थे। इन्द्रों एवं चक्रवर्तियों की विभूति भी जिनके चरणों में नतमस्तक होती थी, ऐसे चौबीस तीर्थंकरों को अवतरित करने का गौरव अपनी इस भारतजननी को ही प्राप्त है। तीर्थंकरों के विहार से पावन अपने इस भारतदेश की धार्मिक समृद्धि सभी देशों में सर्वोत्कृष्ट है।

ढाई हजार वर्ष भी पूरे नहीं हुए जब भगवार वर्द्धमान तीर्थंकर इस भरतभूमि में साक्षात् विचरते थे और श्रेणिक राजा जैसे अनेक राजा-महाराजा उनके उपदेश से अपने आत्मा को पावन करते थे। राजगृही नगरी के रजकण भी उन तीर्थंकर के स्पर्श से तीर्थरूप बन गये और भावश्रुत द्वारा जिन्होंने तीर्थंकर भगवान का भावस्पर्श किया, वे जीव रत्नत्रय की प्राप्ति करके भावतीर्थरूप बन गये। आज भी वर्द्धमान प्रभु की वाणी का प्रवाह अपने सौराष्ट्र से बहकर सारे भारत को परिप्लावित कर रहा है। भगवान महावीर की सच्ची महत्ता तब समझ में आती है, जब उनके उपदेश का रहस्य समझकर उसे आत्मसात् करें। महावीर कोई साधारण मनुष्य नहीं थे; उन्हें महामानव कहना भी उचित नहीं है; वे तो सर्वज्ञता को प्राप्त परमात्मा थे। सर्वज्ञ-वीतराग कहना ही उनकी यथार्थ पहिचान है।

—ऐसे महावीर भगवान ने २५६८ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन कुंडलपुर नगर

में महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला माता के यहाँ जन्म लिया था... सर्वज्ञपद की साधना के लिये ही मानों उन्होंने अवतार धारण किया था और ७२ वर्ष की आयु में वह आत्मसाधना पूर्ण करना थी। उन्होंने न तो विवाह किया और न वे राजपाट के मोह में फँसे... माता-पिता के अपार स्नेह को भी छोड़कर त्रिशला माता का वह इकलौता पुत्र उनकी आज्ञा लेकर वीतरागदशा अंगीकार करके केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये चल पड़ा... निर्ग्रंथ साधु बनकर, मौन धारण करके आत्मसाधना में ही अपना चित्त लगाया... सर्वज्ञ होने से पूर्व अपूर्णदशा में उन्होंने कोई उपदेश नहीं दिया... तीर्थंकर मुनिदशा में मौन ही रहते हैं।—कैसा उत्तम आदर्श!

साढ़े बारह वर्ष तक आत्मसाधना के पश्चात् ४२ वर्ष की आयु में उन्होंने केवलज्ञान प्रगट किया और अरिहंत हुए; फिर विपुलाचल पर समवसरण में दिव्यध्वनि की वर्षा करके रत्नत्रय-पुष्पों से भारत को सुरभित बनाया। तीस वर्ष तक धर्म का स्रोत बहाकर अंत में पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया और मोक्ष पधारे... सिद्धालय में विराजमान हुए... तीन वर्ष बाद उनके निर्वाण को ढाई हजार वर्ष पूरे होंगे।

भारत के साधर्मी बंधुओं! आओ, हम सब मिलकर अपने वीर प्रभु के शासन को उन्नत बनाएँ... उनके दर्शाये हुए रत्नत्रयमार्ग को पहिचानकर उसकी उपासना करें। महावीर भगवान का जन्मोत्सव ऐसी उत्तम भावना से मनाएँ कि जैन-जैन के बीच कहीं विसंवाद न रहे और सारा देश जैनशासन के गौरवनाद से गूंज उठे!! इसप्रकार मंगल-जन्मोत्सव मनाएँ मानो आज भी भगवान हमारे समक्ष विराजमान हों और हम सब उनकी छत्रछाया में धर्मसाधना करते हों... तीर्थंकरदेव के जन्मकाल में भारत में जैसी धार्मिक समृद्धि थी, वैसी ही धार्मिक समृद्धि से भारत देश पुनः छलक उठे—ऐसा यथासंभव प्रयत्न करें! साथ ही भगवान महावीर से प्रार्थना करें कि—

हे प्रभो! आज ढाई हजार वर्ष होने पर भी यह भारत देश आपको भूला नहीं है... अनेक कठिनाईयों के बीच भी आपका धर्मशासन जयवंत वर्त रहा है... आपके द्वारा प्रवाहित धर्म गंगा को वीतरागी संत-मुनियों ने सूखने नहीं दिया... वह वीतरागी अमृत आज भी भारत के लाखों जीवों को नवजीवन का आनंद दे रहा है... आपके परम उपकार का भारत के भव्य जीव अत्यंत भक्तिभावपूर्वक स्मरण करते हुए आपका निर्वाणोत्सव मना रहे हैं

जय महावीर!

वात्सल्य एवं प्रभावना गुणयुक्त सम्यग्दृष्टि को निर्जरा ही होती है

[श्री समयसार गाथा २३५-२३६ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

अब, वात्सल्य गुण की गाथा कहते हैं:—

जो मोक्षपथ में 'साधु' त्रय का, वत्सलत्व करे अहा!
चिन्मूर्ति वह वात्सल्ययुत, सम्यक्तदृष्टि जानना॥२३५॥

जो धर्मी जीव मोक्षमार्ग में रहे हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों (साधनों) के प्रति (अथवा व्यवहार से आचार्य, उपाध्याय, मुनि और साधर्मी के प्रति) वात्सल्य करता है, वह वात्सल्यभाव से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

परमार्थ वात्सल्य अर्थात् निज शुद्धात्मतत्त्व में निर्मल श्रद्धा-ज्ञान के उपरांत आंशिक वीतरागदशा की वृद्धि होना, वह निश्चय वात्सल्य है; उसके साथ धर्मी जीवों के प्रति निर्मल वात्सल्यभाव होता है—ऐसे शुभराग को व्यवहार वात्सल्य कहने में आता है।

सर्वज्ञ वीतरागकथित तत्त्वार्थश्रद्धान—ज्ञान और आत्मानुभवसहित जीव को धर्मात्मा कहते हैं, वे कदाचित् नीच कुल में जन्मे हों, बाह्य में निर्धन देखे जाते हों, तथापि अपने अज्ञानी पुत्रादि की अपेक्षा उनके प्रति धर्मी जीव को विशेष प्रेम होता है। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा सच्चे देव-शास्त्र-गुरु आदि धर्म के स्थानों के ऊपर विशेष राग न होवे तो उसको सम्यग्दर्शन की भूमिका का यथार्थ ज्ञान नहीं है।

अहो! रत्नत्रय के धारक साधु तो वीतराग परमेष्ठी हैं, जो त्रैलोक्य में बल्लभ हैं, जिनके प्रति चार ज्ञान के धारक श्री गणधरदेव तथा तीन ज्ञान के धारक इंद्र भी परम प्रीति-वात्सल्यभाव रखते हैं। निरंतर गुणश्रेणीनिर्जरासहित वीतरागचारित्र में आरूढ़ होकर जो अंतरपरमेश्वर पद में रमते हैं, अतीन्द्रिय आनंदामृत-रस की डकार लेकर अद्भुत तृप्ति का अभ्यास कर रहे हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी को हम नमस्कार करते हैं।

जिसे पंचपरमेष्ठियों के प्रति सच्ची पहिचानसहित प्रेम हो, उसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्र के आराधक के प्रति बहुमान, विनय, भक्ति आदि का भाव आये बिना नहीं रहता। आहारदान के समय भरत चक्रवर्ती मुनिराज के दर्शन की राह देखते हैं व भावना भाते हैं कि मुनि-संतों के दर्शन हों तो नवधाभक्तिसहित आहारदान देऊं। जो निरंतर स्वरूप में एकाग्रता के बल द्वारा अंतर में केवलज्ञान-निधान को खोदकर बाहर निकालने का महान—अपूर्व प्रयत्न करते रहते हैं, उनको श्रमण कहा जाता है। स्वयं को परमपद की अपार महिमा वर्तती है और वीतरागता तथा उसको साधनेवालों का तीनों काल अस्तित्व बना रहे, ऐसी भावना होने से वीतरागस्वरूप की प्रसिद्धि करनेवाले स्वरूप में लीनता द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करनेवाले ज्ञानामृत का भोजन करनेवाले (अतीन्द्रिय ज्ञानानंद के भोक्ता) ऐसे साधु परमेष्ठी के मुझे कब दर्शन होंगे, ऐसी भावनासहित भरत चक्रवर्ती महल के बाहर नंगे पैर मुनि की राह देखते हैं।

जिसके पास छह खंड का राज्य, नवनिधि, दियानवे हजार रानियाँ हैं, जिसके पुण्य का ठाठ साधारण मनुष्य की कल्पना में भी नहीं आ सकता, ऐसे पुण्य का सर्वथा निषेध-उपेक्षा और त्रिकाली अकषाय वीतरागस्वभाव का आदर, यह तो उनको गृहस्थदशा में भी निरंतर होता है। भरतजी भावना भाते हैं कि उसी समय आकाश में से चारणऋद्धिधारी दो मुनि नीचे उतरते हैं। मानों चलते सिद्ध ही हों!!.... धन्य घड़ी.... केवलज्ञानरूपी निधान का खजाना खोलनेवाले मुक्तिदूत मिले। रोम-रोम में आनंद उछलता है, नम्रीभूत होकर, नमस्कारपूर्वक मुनि को प्रदक्षिणा देकर महल में ले जाते हैं, अतिशय उल्लास तथा नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं। धर्म धर्मी के बिना नहीं होता। धर्म रत्नत्रयरूप वीतरागभाव है, उसकी साधना करनेवाले के प्रति ज्ञानी को, गाय को अपने बछड़े के समान, निस्पृह प्रेम आये बिना नहीं रहता और वहाँ स्वसन्मुखता की नि:शंक अखंड रुचि एक धारा से काम करती है, इसलिये मार्ग की अप्राप्ति के कारण अज्ञानदशा में जो कर्म का बंध होता था, वह अब होता ही नहीं।

वात्सल्यता अर्थात् निस्पृह प्रीतिभाव। जो जीव मोक्षमार्गरूप अपने स्वरूप के प्रति रुचि तथा प्रीतिवाला होता है, उसको साध्य जो निजकारणपरमात्मारूप परमपद, उसमें ही रुचि-आदर-आश्रय और उत्साह की प्रधानता होने से, विभाव-पराश्रय-व्यवहार की अंतरंग से प्रीति नहीं है; उनका आदर-आश्रय और भावना नहीं होने से उसको संसार के फल की प्राप्ति नहीं होती, लेकिन जिसकी महिमा-मुख्यता, आदर और आश्रय वर्तता है, ऐसे स्वरूप में ही

मग्न रहने की भावना होने से उसका उदय उनके जीवन में निरंतर वृद्धि को प्राप्त ही होता जाता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि को शुद्धि की वृद्धि तथा आंशिक अशुद्धि की हानिरूप निर्जरा ही होती है, मार्ग की अप्राप्ति से होनेयोग्य बंध नहीं होता है। स्वसन्मुखता की शक्ति (बल) अनुसार स्वरूप में शांति का रस बढ़ता है और अज्ञानदशा में बंधे हुए कर्म उदय में आकर उनकी निर्जरा हो जाती है। (२३५)

अब प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं—

चिन्मूर्ति मन-रथपंथ में, विद्यारथारूढ़ घूमता।
जिनराज-ज्ञान-प्रभावकर, सम्यक्तदृष्टि जानना॥२३६॥

अहो! वीतरागविज्ञान प्रभावी—वीतराग दृष्टिवंत वीतरागचारित्र की भावनावाला—स्वयं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण अपने ध्रुव ज्ञानस्वभाव को कारण बनानेवाला होने से अपने ज्ञान की पूर्ण शक्ति को प्रगट करने, विकसित करने के द्वारा वीतराग विज्ञानरूपी रथ पर आरूढ़ होता हुआ (अर्थात् जिनज्ञानरूपी रथ को चलाने का मार्ग सम्यक् रत्नत्रयी) उसमें भ्रमण करता है, वह आत्म-स्वभावी ज्ञान की प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

वीतरागदृष्टि का विश्राम-आधार अकेले ध्रुव ज्ञायकभाव के ऊपर है। इसलिये धर्मी को अकेले ज्ञायकभावमयता के कारण शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है। बीच में बाहर का दूसरा सब निकाल दिया। निमित्त-व्यवहार के भेद को गौण करके मोक्षमार्ग में उसका अभाव गिनकर उसको दृष्टि में से निकाल दिया, अर्थात् प्रथम से ही श्रद्धा में उसको मार्गरूप से माना नहीं है।

इसप्रकार प्रथम से ही धर्मी अपने एकरूप ज्ञायकभाव के आधार से निर्मल श्रद्धा-ज्ञान, आनंद, वीर्य आदि शक्तियों को प्रगट करके—विकसित करके—फैलाकर प्रभावना करता होने से—जिन वीतरागमार्ग की प्रभावना से प्रभावनागुण को धारण करनेवाला है। ऐसे स्वसामर्थ्य के बल के विश्वास से चारित्र के लिये भी स्वरूप में उग्रता से विशेषरूप से स्वभाव की एकाग्रता—शुद्धता के प्रभावरूप ज्ञानरथ पर आरूढ़ होकर अंदर की गति में गमन कर रहा है।

सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्ण अर्थात् अनादि-अनंत एकरूप पूर्ण ज्ञानघन ऐसे अकेले ज्ञायकभाव को कारण-आधार बनाकर उसमें ही निर्मल श्रद्धा-ज्ञान और एकत्व करता होने से

जिनज्ञान-वीतरागी ज्ञान की अपने में प्रभावना करता है। ध्रुव, अखंडित कारणज्ञानस्वभाव के आलंबनरूप निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता, वह निश्चय प्रभावना है, उसके द्वारा ही वीतरागी विज्ञानघन दशा को समय-समय में प्रगट कर रहा है, उसको सच्ची प्रभावना कही जाती है। वहाँ मंद पुरुषार्थ के काल में शुभराग आता है, वह तो व्यवहार प्रभावना है, पुण्यबंध की क्रिया है। जिनेन्द्र भगवान को रथ में विराजमान करके पूजा, भक्ति तथा जिनमंदिर, शास्त्रादि संबंधी शुभभाव आता है, वह तो जिसको निश्चयधर्म प्रगाढ़ हुआ है, उसको व्यवहार-प्रभावना कहने में आती है।

पुस्तक लिखना-लिखाना आदि शास्त्रज्ञान की प्रभावना का शुभभाव आता है किंतु वह सच्ची प्रभावना नहीं है। लेकिन भेदज्ञानसहित स्व-सन्मुख ज्ञान की भावना करना—पर्याय में शुद्धि की वृद्धि प्रगट करना, वह सच्ची प्रभावना है। ऐसा निश्चयधर्म चौथे गुणस्थान से (गृहस्थदशा में हो या चारों गतियों में चाहे जहाँ हो) प्रगट हो सकता है।

जहाँ दृष्टि में (श्रद्धा में) वीतरागता और उसके उपरांत चारित्र में आंशिक निश्चय वीतरागता होती है, उसको सम्यग्दर्शन के निःशंकितादि गुण होते हैं।

भावार्थः—धर्मी को अंतर में केवलज्ञाननिधान को प्रगट करने का प्रयत्न वर्तता है। स्वसन्मुखता ज्ञातापना वह पुरुषार्थ है। भले ही समय लगे किंतु स्वाश्रय एकाग्रतारूप श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र, आनंद और वीर्यरूप पर्याय की निर्मलता होती जाती है। ऐसी प्रभावना को सच्ची (निश्चय) प्रभावना कहते हैं, सम्यग्ज्ञानी ऐसी प्रभावना करता ही है, इसलिये उसको धर्म की अप्रभावनाकृत बंध नहीं होता किंतु पहले अज्ञानदशा में बंधे हुये कर्मों की निर्जरा ही होती है।

मार्ग-प्रभावना अर्थात् मार्ग का प्रकाश करना, महिमा बढ़ाना, धर्म को विशेष उज्ज्वल करना, धर्म की शोभा बढ़े वैसा करना—लेकिन इस कार्य को कहाँ करना? कि जहाँ वह हो वहाँ पर कल्याण के मार्ग की प्रवृत्ति करना। वह स्थान देह में, देह की क्रिया में, वाणी में और शुभाशुभराग में या व्यवहार में नहीं है, क्योंकि वे तो आत्मा से भिन्न-बाहर की चीजें हैं; उनमें आत्मा नहीं है। भेदज्ञान द्वारा पर से और राग से भिन्न अंतर में अखंड ज्ञानस्वभाव को निश्चय दृष्टि का ध्येय बनाकर उसमें श्रद्धा-ज्ञान और एकाग्रता का बल फैलाकर प्रगट पर्याय में स्वयं बलवान हो तो उसको अंतरंगशुद्धि अर्थात् निर्जरा होती है। वहाँ भूमिका के योग्य प्रभावना

कहने में आती है। किंतु जिसने पूजा, भक्ति आदि के शुभराग को धर्म माना है, उसको प्रभावना भी नहीं है। अनुपचार निश्चयधर्म के बिना उपचार (आरोपित) शुभराग में व्यवहार धर्म का आरोप आता ही नहीं। चौथे गुणस्थान से ही निश्चयधर्म की शुरुआत होती है।

इस गाथा में स्वाश्रित निश्चय प्रभावना का स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्ब को रथ में स्थापित करके महान उत्सवसहित नगर, वन आदि में फिराकर तथा शास्त्र आदि द्वारा व्यवहारप्रभावना की जाती है, उसीप्रकार जो सम्यग्ज्ञानरूपी रथ में पूर्ण ज्ञानस्वरूपी आत्मा को स्थापित करके अंतर में ज्ञान की एकाग्रता करता है, वह ज्ञान की प्रभावना से युक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चय प्रभावना करनेवाला है।

गाथा २२९ से २३६ तक, इन आठ गाथाओं में सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को नित्य स्वभावाश्रित निश्चयनि:शंकितादि आठ गुण निर्जरा के कारण कहे। इसीप्रकार अन्य भी **शम**-अनंतानुबंधी कषायों का शमन अर्थात् स्वरूप के लक्ष्य से असंख्य प्रकार के शुभाशुभभावों के प्रति मन का स्वभाव से ही (सहज ही) शिथिल हो जाना; **संवेग**-धर्म तथा धर्म के फल में उत्साह और पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति; **निर्वेद**-स्वरूप में उत्साहसहित संसार, शरीर और भोगों के प्रति वैराग्यभाव; **अनुकंपा**-वैररहित बुद्धि तथा आस्था, निंदा, गर्हा आदि; उनमें स्वसन्मुखता के बल से जितनी परिणामों की शुद्धता होती है, उतना निश्चय धर्म है, उसे तो निर्जरा ही होती है; बंध नहीं होता तथा शेष राग रहा, उससे बंध होता है; धर्म नहीं होता।

इस ग्रंथ में आत्माश्रित कथन मुख्य होने से नि:शंकित आदि गुणों का निश्चय स्वरूप (स्वाश्रित स्वरूप) यहाँ बताने में आया है। उसका सारांश इसप्रकार है—

(१) जो सम्यग्दृष्टि अपने पूर्ण ज्ञानस्वरूप में तथा उसके ज्ञान-श्रद्धान में नि:संदेह होता है, भय के कारण मिलने पर भी स्वरूप में चलायमान नहीं होता, संदेहयुक्त नहीं होता, श्रद्धा में पूर्ण समाधान-रूप होने से, उसके नि:शंकित गुण होता है।

(२) कर्म के फल की वांछा न करे, पुण्य-पाप और उसका फल, संसार तथा संसार का कारण (मिथ्यात्व तथा शुभाशुभ रागादि) उनकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तुओं के धर्मों की (जगत के माने हुये इष्ट-अनिष्ट, सन्मान-अपमान, सुवर्ण-पाषाण, रोग-निरोग आदि पुद्गल के धर्म हैं—ऐसे किसी भी धर्म की) ज्ञानी को इच्छा नहीं है। चारित्र की कमजोरी से

क्षणिक निर्बलता के जितनी अल्प इच्छा होती है, किंतु उसे किसी इच्छा की इच्छा नहीं है। नित्य स्वभाव के संतोष को चूककर इच्छा नहीं है। बेहद सुखस्वभाव की बलवान दृष्टि के जोर से अल्प निर्बलता, इच्छा का कर्ता-भोक्ता या स्वामी नहीं होता। इससे भेदज्ञान की अधिकता द्वारा ज्ञेयरूप से ज्ञान की वृद्धि का निमित्त बनता है।

सर्व विभावों का निषेध करनेवाली दृष्टि और इच्छा के अभावरूप स्वभाव के बल से कमजोरी के कारण होनेवाली इच्छा भी निर्जरा का निमित्त बनती है। शुभव्रतादि की भी इच्छा नहीं है, मोक्ष की इच्छा भी सम्यग्दृष्टि को नहीं है, ऐसा नि:कांक्षित्व गुण होता है।

(३) मलिन पदार्थ, कोई क्षेत्र तथा अति उष्ण-शीत ऋतु का काल देखकर ग्लानि नहीं करता है, जड़ स्वभाव का ज्ञाता ही है, प्रतिकूल देखकर हाय! हाय!! नहीं करता। ऐसा क्यों? ऐसा प्रश्न न उठकर सच्चा समाधान ही रहता है कि इस काल में ऐसा ही होनहार था। दिगंबर मुनिदशा में शरीर को मलिन देखकर किंचित् भी ग्लानि नहीं करते। असंख्य प्रकार के काम, क्रोधादि विकल्पों से अतिक्रांत और निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान में लीनता तथा आत्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय ज्ञान-आनंद द्वारा वे महा सुखी हैं। मुनि तो बारंबार छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले होते हैं। मुनि के शरीर में मलिनता, अस्नानता देखकर ग्लानि नहीं करना, वह व्यवहार निर्विचिकित्सा है और ज्ञातास्वभाव के प्रति अरुचि नहीं होना देना, निज परम पद में ही उत्कृष्ट रुचि होना, वह निर्विचिकित्सा नाम का अंग है।

(४) स्वरूप में तथा हेय-उपादेय आदि प्रयोजनभूत तत्त्वों की समझ में मूर्ख नहीं होता है, प्रयोजनभूत स्वरूप को यथार्थ ही जाने, वह अमूढ़दृष्टि अंग है। शास्त्र में अनेक अपेक्षाओं से सूक्ष्म वर्णन आता है, वह मंद बुद्धि के कारण अपने समझ में नहीं आवे, तथापि उसमें हेय-उपादेय की भूल नहीं होने देता। अन्यमतों के तत्त्व कल्पित तैं, ऐसा निश्चय होने से उनके देव-गुरु-शास्त्र में सत्य बात होगी? थोड़ा तो सत्य होगा न? ऐसा वह नहीं मानता क्योंकि एक सेर दूध में किंचित् भी जहर डालने से उसमें किसी भी प्रकार से दूध का गुण नहीं रहता है। उसीप्रकार जिसके मत में हेय, ज्ञेय और उपादेय तथा देव, शास्त्र, गुरु आदि का स्वरूप अन्यथा है, उसकी कोई भी बात प्रमाणभूत नहीं भासती। गुरु का स्वरूप कैसा होगा? सग्रंथ या निर्ग्रंथ? वस्त्र-पात्र सहित भी जैन गुरु हुए तो क्या हुआ? अन्यमत में महान गुरु हो गए हैं,

ऐसी बातों को पढ़कर अथवा श्रवण करके भूल न होने देवे। अन्यमत में भी सच्ची श्रद्धा, आत्मज्ञान और चारित्रवान होंगे तो ? इसप्रकार भ्रम में नहीं पड़ता है किंतु सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों को जैसे हैं, उसप्रकार बराबर माने, तथा उनसे विपरीत स्वरूप का किंचित् भी आदर नहीं करता। सर्व द्रव्य और उसके गुण-पर्याय तीनों काल स्वतंत्र हैं, प्रत्येक वस्तु स्वरूप से है और पररूप से नहीं है, पर के आधार से नहीं है। परद्रव्य-क्षेत्र-काल और परभाव जिसप्रकार के मिलें, वैसा होना पड़ता है—उनका असर पड़ता है, ऐसा नहीं मानता, कर्तापना का लौकिक व्यवहारकथन होता है, और ऐसा राग आता है किंतु श्रद्धा में ऐसे व्यवहारकथन को यह 'ऐसा नहीं है किंतु निमित्त की अपेक्षा से कथन करने की ऐसी रीत है', वस्तु तो द्रव्य-गुण-पर्याय से स्वतंत्र ही है, परतंत्र नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, ऐसा दृढ़तापूर्वक जानता है।

शुभराग से-व्यवहार से परमार्थरूप धर्म तीन काल में भी नहीं हो सकता, इस सिद्धांत में दृढ़ निश्चयी होने से विरुद्ध बात में किंचित भी मूढ़ता नहीं होने देता। इससे सम्यग्दृष्टि के अमूढ़त्व गुण होता है, उसमें स्वाश्रित भाव से निर्जरा होती है, वह निश्चय से अमूढ़त्व है और इस जाति का शुभभाव, वह व्यवहार से अमूढ़त्व अंग है।

लोक मूढ़ता तथा देव, गुरु और शास्त्र के संबंध में मूढ़ता नहीं होने देना, इस विषय में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में बहुत स्पष्ट वर्णन है। सती द्रोपदी को पाँच पति मानते हैं - ऐसा नहीं हो सकता। निर्ग्रंथ मुनिपद स्त्री को तथा वस्त्रधारी को होता ही नहीं है।

सर्वज्ञ वीतराग अरहंतदेव को १८ दोष होते ही नहीं, उनको आहार-पानी होना, रोग, उपसर्ग, औषधोपचार करना तथा ज्ञान-दर्शन का उपयोग क्रम-क्रम से ही होना, ऐसा माने-मनावे, किंतु ऐसा नहीं है। कोई ऐसा कहे कि सर्वज्ञ तो उस काल के मनुष्यों में विशिष्ट विचारक खास बुद्धिमान होगा; लेकिन तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को एकसाथ जाने, अनादि-अनंत को जान सके, ऐसा सर्वज्ञ नहीं हो सकता, अथवा सर्वज्ञ निश्चय से आत्मा को ही जानते हैं, पर को जाने वह व्यवहार असत्य है; इसप्रकार जो सर्वज्ञ के स्वरूप को अन्यथा कहता है, उसके कथन को ज्ञानी मानते नहीं हैं। सर्वज्ञ भगवान पर को जानते हैं लेकिन पर में तन्मय होकर नहीं जानते, इसलिये वह व्यवहार कहने में आता है, किंतु समस्त परज्ञेयों संबंधी

ज्ञान अर्थात् स्व-पर प्रकाशकरूप से ज्ञान की पर्याय, वह निश्चय ही है।

(५) उपगूहन—अपने आत्मा को शुद्ध स्वरूप में एकाग्र करें, निज शुद्धात्मा के अवलंबन के बल से अपनी शक्ति की वृद्धि करें तथा दोषों को गौण करें, एकांतवाद से दूषित किसी भी बात का आदर नहीं होने देवे। इसमें स्वाश्रय के बल से परिणामों की शुद्धि होना, वह निश्चय धर्म अंग है और अन्य धर्मात्मा जीव के दोषों का गोपन करे, किसी के दोषों का प्रदर्शन नहीं करे, वह व्यवहार से उपगूहन अंग है और अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करना तथा व्यवहार मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना, इसप्रकार के शुभभाव को व्यवहार उपगूहन कहते हैं।

शुभभाव को बढ़ाना, यह तो उपदेश का वचन है, इसका अर्थ यह है कि ज्ञान की वृद्धि का पुरुषार्थ बढ़ाना चाहिये। राग की वृद्धि करना, ऐसा वजन नहीं है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव करना, ऐसा व्यवहारनय के कथन में आता है, बाकी शुभराग के काल में शुभभाव आता ही है। पाँच महाव्रत का पालन करूँ, दूसरे भी महाव्रत का पालन करें तथा अतिचार दोषों को टालो, ऐसा उपदेश का राग आता है। ऐसा राग करूँ—उसको लाऊँ, ऐसा नहीं मानता है। ज्ञानी को भेदज्ञान तो निरंतर ही है कि राग मेरा स्वरूप नहीं है, वह हितकर नहीं है, मेरा कर्तव्य नहीं है, तथापि अमुक भूमिका में उस जाति का राग आये बिना नहीं रहता।

(६) स्थितिकरण—स्वरूप की श्रद्धा-स्वावलंबी ज्ञान और शांति से च्युत हो जाये तो अपने आत्मा को पुनः स्वरूप में स्थित करना, वह निश्चय स्थितिकरण और व्यवहार मोक्षमार्ग से चलायमान होने पर उसमें आत्मा को पुनः स्थिर करना, वह व्यवहार स्थितिकरण है; उसमें जितने अंश में वीतरागभाव है, उतने अंश में ही धर्म है; राग शेष रहा, वह धर्म नहीं है—ऐसे स्पष्ट भेद को ज्ञानी जानता ही है। श्रद्धा में हेय-उपादेय की प्रमाद के कारण सूक्ष्म भी भूल नहीं होवे, इसलिये सावधान रहता है, तथापि किंचित् भी अस्थिर हो जाये तो स्व-पर को स्थिर करने का राग आता है।

प्रश्न—बिल्ली को दूध पिलाना, भूखे को भोजन कराना, वह स्थितिकरण अंग है या नहीं?

उत्तर—नहीं, लेकिन उनके प्रति अनुकम्पा का निषेध नहीं है। ज्ञानी को ऐसा शुभराग आता है किंतु उसको धर्म का अंगरूप नहीं मानता है।

(७) **वात्सल्य**—अपने स्वरूप के प्रति विशेष अनुराग अर्थात् मेरे लिये मेरा आत्मा ही इष्ट है, ध्रुव है, आधाररूप है, अन्य कोई नहीं है;—ऐसी दृढ़तापूर्वक चिदानंदस्वरूप का घनिष्ट प्रेम, वह निश्चय वात्सल्य है। धर्मात्मा साधर्मियों के प्रति विशेष अनुराग, वह व्यवहार वात्सल्य है।

आंशिकरूप में भी निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट हुए बिना व्यवहारमोक्षमार्ग होता ही नहीं है। चौथे गुणस्थान से ही अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप स्वरूपाचरणचारित्र होता है, वह आंशिक जघन्य मोक्षमार्ग है, वह निश्चयवात्सल्य है, और अन्य साधर्मी धर्मात्मा के प्रति निस्पृह प्रेम होना—ईर्षा, द्वेष नहीं होना, वह व्यवहार वात्सल्य है।

(८) **प्रभावना**—आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशित करना, प्रगट करना। निश्चय प्रभावना तो अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव के आश्रय से निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और शुद्धतारूप चारित्र प्रकट करना, वह है और दूसरे लोग सर्वज्ञ वीतरागदेव का स्वरूप, सच्चे गुरु, धर्म का स्वरूप समझें और धर्म की महिमा बढ़े, इसप्रकार का शुभराग धर्मी जीव को भूमिकानुसार आये बिना नहीं रहता और ऐसा जो नहीं मानते, वे मिथ्यादृष्टि हैं तथा शुभराग से संवर-निर्जरा (धर्म) माने तो भी मिथ्यादृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि अपनी निश्चय शुद्धता, वीतरागता से ही शोभा मानता है और बाह्य में जिनमंदिर, रथयात्रा, पूजा, प्रभावना, उपदेश तथा शास्त्रों के प्रचार द्वारा धर्म प्रभावना का भाव आता है, वह व्यवहार प्रभावना है। नीचे की भूमिका में निर्विकल्पता अधिक समय तक टिकती नहीं है, इसलिये शुभभाव आता है किंतु जो शुष्क ज्ञानी है, वह अशुभ से बचने के लिये शुभभाव का निषेध करे और प्रमादी हो जाये, वह तो पाप ही बांधता है। श्री पंचास्तिकाय शास्त्र में निश्चयाभासी को एकेन्द्रिय वृक्ष के समान कहा है। मन में शुद्ध चिंतवन के जैसा मानकर प्रमाद में मस्त होकर पड़ा रहे और माने कि हमको आत्मा का निर्विकल्प ध्यान है, उनका अभिमान तो बढ़ा हुआ ही रहता है, इससे उनको देव-गुरु-धर्म का प्रेम तथा विनय, पूजा-भक्ति का उत्साह होता नहीं है। निश्चय की प्रतीति तथा अनुभववाले को भी निचलीदशा में व्यवहार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र संबंधी प्रभावना का शुभभाव आता ही है।

यहाँ आठ निश्चय अंग कहे हैं, वे उनके प्रतिपक्षी दोषों द्वारा जो कर्मबंध होता था,

उसको होने नहीं देते। चारित्र की कमजोरी से अल्प दोष होता है, तथापि ज्ञानी नित्य निर्दोष स्वभाव के बल से उसका स्वामित्व तथा किसी भी दोष का आदर नहीं होने देता।

तत्त्व से-मोक्षमार्ग से विरुद्ध बात का स्वप्न में भी आदर नहीं होता किंतु निषेध ही वर्तता है, इसलिये सम्यग्दृष्टि को निरंतर निर्जरा ही होती है क्योंकि अज्ञानदशा में होने योग्य ऐसा नया बंध तो कभी भी होता ही नहीं है, कारण कि मुख्य बन्धन और पाप तो मिथ्यात्व की भूमिका में होता है। ज्ञानी को निरंतर ज्ञानचेतना का स्वामित्व और मुख्यता होने से अज्ञान-चेतना-कर्ताभोक्तारूप विकल्प, उसका स्वामित्व और भावना नहीं है।

यहाँ श्री समयसार में निश्चयप्रधान कथन होने से व्यवहार आठ अंगों का वर्णन गौणरूप से किया है। धर्म की भूमिकानुसार उचित निमित्तरूप से किस जाति का राग होता है, वह बतलाने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन होता है किंतु निमित्त की मुख्यता से भी किसी समय आत्महितरूप कार्य होगा, यह त्रिकाल असत्य है।

भेदज्ञानपूर्वक ज्ञानानंदस्वभाव में जितनी सावधानी, एकाग्रता करे, वह निश्चय धर्म और शुभ विकल्प आये, वह व्यवहार अर्थात् उपचार धर्म है। जो धर्म नहीं, उसको धर्म क्यों कहना ? कि जहाँ अनुपचार निश्चयधर्म होता है, वहाँ निमित्तरूप से ऐसा ही (इस जाति का) राग होता है, ऐसा सहचरपना-निमित्तपना बताने के लिये उपचार से उसको भी धर्म कहना, उसका नाम व्यवहार है। उसको उसीप्रकार जानना चाहिए। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों का विषय है। दोनों नय 'हैं' इस अपेक्षा समान हैं किंतु प्रयोजन की अपेक्षा दोनों में अंतर है। व्यवहार है, वह व्यवहार अपेक्षा उपादेय है, किंतु निश्चय ही मुख्यता में व्यवहार गौण है; धर्म की प्राप्ति के लिये आश्रय करनेयोग्य नहीं है, इस अपेक्षा से हेय है—त्याज्य है। प्रमाणज्ञान से निश्चय-व्यवहार के उपादेय-हेय का ज्ञान नहीं होता, गौण-मुख्य का ज्ञान नहीं होता। उसमें दोनों नयों की प्रधानता है। प्रधानता अर्थात् दोनों को 'है' रूप से जानने के लिये बराबर है।

नयज्ञान अर्थात् जो एक अंग को मुख्य करे और दूसरे को गौण करके मुख्य विषय को जाने और उसका प्रयोजन (तात्पर्य) वीतरागता ही है। स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है। नयविभाग और उसके प्रयोजन को नहीं समझनेवाले शास्त्र के व्यवहार-कथन को निश्चय-

कथन मानकर विपरीत समझते हैं किंतु हेय-उपादेय और गौण-मुख्य का रहस्य समझनेवाले स्याद्वादमत को माननेवाले को कहीं भी विरोध नहीं आता। प्रयोजन की सिद्धि के लिये नयविभाग द्वारा गौण-मुख्य होता है किंतु व्यवहार के आश्रय से-राग के आश्रय से वास्तव में धर्म अथवा संवर-निर्जरा होगी, ऐसी कदापि नहीं हो सकता। व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी सच्चा धर्म नहीं है, किंतु असत्यार्थ अर्थात् व्यवहार ज्ञेयरूप से वैसे स्थान में निमित्तरूप है, ऐसा जानना, वह स्याद्वाद है।

साधकदशा में—निचली भूमिका में शुभराग किसप्रकार का होता है, यह जानने के विषय के साथ उसका निरूपण किया जाता है। इसलिये दोनों को जहाँ जैसे होवें, उसीप्रकार जानना, उसका नाम प्रमाणज्ञान है। श्रद्धा में, हेय-उपादेय के विषय में एक तो (पराश्रयरूप रागभाव) बंध का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है; और एक (स्वाश्रयरूप-वीतरागता) मोक्ष का ही कारण है, बंध का कारण नहीं है। ऐसा निर्धारित (निर्णय) करना चाहिये। व्यवहारनय का विषय जाननेयोग्य है किंतु धर्म के लिये आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा अभिप्राय कहीं पर है ही नहीं।

(कलश १६२)

निज शुद्धात्मा के आलंबन के बल से नवीन बंध को रोकता हुआ, श्रद्धा में परिपूर्ण आत्मा को मानता हुआ, मेरा सच्चा स्वरूप देखा जाये तो मैं परमात्मा हूँ, ऐसा दृष्टि में लेने से मिथ्यात्वादि आस्रवों को रोकता है, पुराने कर्मों को स्वाश्रित निश्चयदृष्टि के बल से नष्ट करता हुआ, शुद्धि की वृद्धि और अशुद्धि का नाश करता हुआ, स्वयं अतिरस से निजरस में मस्त आदि-मध्य-अंत रहित एकरूप धारावाही ज्ञानरूप होकर स्व-परप्रकाशक विशाल आकाश में अवगाहन (प्रवेश) करके सम्यग्दृष्टि सदा सर्वत्र ज्ञाता ही है, शुभाशुभराग तथा पर की क्रिया का कर्ता, भोक्ता या स्वामी नहीं।

अज्ञानी की संयोग और विकार के ऊपर दृष्टि और रुचि होने से, शुभराग की क्रिया से उपवास हुआ और उससे निर्जरा होती है—ऐसा मानता है, लेकिन शरीर को भोजन प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये पुण्य हुआ, ऐसा नहीं है, किंतु मंदकषाय-शुभभाव करे तो पुण्य है, उस शुभराग से अर्थात् अशुद्धता से लाभ माननेवालों को मिथ्यात्व का लाभ होता है।

संयोगी दृष्टिवाला ऐसा मानता है कि पाँच महाव्रत अंगीकार किये, इसलिये निर्जरा होती है; किंतु ऐसा नहीं है। कारण कि वह आत्मा का चारित्र नहीं है, किंतु राग की वृत्ति होने से चारित्र का दोष है, बंध का कारण है। जो भाव, बंध का कारण है, वह अबंध भाव का-शुद्धभाव का कारण हो ही नहीं सकता।

रागरहित असंग स्वभाव की दृष्टिवाला जीव भले ही गृहस्थदशा में हो, लेकिन वह वास्तव में गृहस्थ है ही नहीं; जहाँ रुचि है, वहाँ वह जागृत है। संयोग और शुभाशुभराग की अपेक्षारहित, गुण-गुणी का भेदरहित ऐसा चैतन्य चिंतामणि मैं हूँ, ऐसे अनुभव द्वारा अंतर की विश्रांति को प्राप्त हुआ होने से कहीं भी पराश्रय में आत्महित नहीं मानता। मैं तो नित्य ज्ञानघन स्वभाव में ही हूँ, पुण्य-पापरूप आस्रवतत्त्व में मैं नहीं हूँ—इसप्रकार स्वभाव की दृष्टि, स्वभाव का ज्ञान तथ स्वसंवेदन के बल से निजरस में तृप्त-तृप्त होता हुआ अतींद्रिय आनंद का उपभोग करता है। अनादि की मूर्छा नष्ट होकर निज महिमा में सावधान हुआ है, इसलिये उसको अन्य कहीं भी आनंद नहीं भासता। मैं ही मोक्ष हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को नित्यानंदस्वभाव में संतोष वर्तता होने से, अज्ञानदशा में अन्यत्र आनंद भासता था, पराश्रय व्यवहार में हित प्रतिभासित होता था, उसी के कारण निरंतर मिथ्यात्वादि पापकर्मों का बंधन होता था, वह अब कभी भी नहीं होता है किंतु स्वभावदृष्टि के बल से शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा होती है।

ध्रुवस्वभावसन्मुख हुआ सो हुआ—जैसे नित्य चैतन्यधातु का नाश होता नहीं है, उसीप्रकार उसका अभेद आश्रय किया, उस आराधकभाव का भी नाश नहीं होता। इसलिये आदि-अंतरहित,, अनंत सुखधाम में एकाग्रता के साथ धारावाही ज्ञान, ज्ञान का ही कार्य करता है; राग का नहीं। जैसे प्रकाश, प्रकाश का ही काम करता है, अंधकार का नहीं; उसीप्रकार धर्मात्मा को नित्य ध्रुव स्वाधीनता की जो दृष्टि हुई है, वह दृष्टि—ज्ञान तथा स्वरूप के ओर की परिणति —ध्रुवस्वभाव में स्थिर हुई, अंतरस्वभाव में विश्रांति मिली है, इसलिये वह ध्रुव चैतन्य के आश्रय से अंतर में ज्ञानधारारूप साधकभाव उत्कृष्ट पद-मोक्ष को पुरुषार्थानुसार प्राप्त करता ही है।

स्वतंत्रता प्राप्त करने की रीति समझना, यह अपने अधिकार की बात है, समझ में आये ऐसी सरल बात है। प्रकाश किये बिना अन्धकार दूर नहीं होता, उसीप्रकार अंतर में इसका यथार्थ ज्ञान न करें तो मिथ्यात्वरूपी महापाप और अज्ञान-अन्धकार दूर नहीं होता।●

भगवान पारसनाथ

[लेखांक : ५ गतांक से आगे]

भगवान पारसनाथ के दस भवों का वर्णन हम पढ़ रहे हैं। मरुभूति एवं कमठ दो भाई; मरुभूति मरकर हाथी हुआ एवं सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; सर्प के काटने से उसकी मृत्यु हो गई। अग्निवेग-मुनि के भव में उसे अजगर निगल गया; वज्रनाभि चक्रवर्ती के भव में भील ने बाण से बींध दिया। फिर ग्रैवेयक में जाकर अपने चरित्रनायक अनंद राजा के रूप में अवतार लिया है एवं अष्टाह्निका में जिनेन्द्रदेव की पूजा का महान उत्सव करके मुनिराज का उपदेश श्रवण करते हैं।

अब आगे पढ़िये—

श्री मुनिराज के उपदेश में जिनेन्द्र भगवान के दर्शन की महिमा श्रवण करके आनंदराजा इत्यादि सभी जीव अत्यंत प्रसन्न हुए; अनेक जीवों ने प्रतिदिन भगवान के दर्शन करने की प्रतिज्ञा लेकर अरिहंत भगवान के समान आत्मा के शुद्धस्वरूप का चिंतवन करने लगे। भावपूर्वक मुनिराज की स्तुति-वंदना करके सभी अपने-अपने स्थान पर चले गये। मुनिराज भी विहार करते-करते भोजन के समय अयोध्यानगरी में पधारे। आनंदराजा ने नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान दिया। आहारदान के बाद मुनिराज ने कहा कि हे राजन! अब तुम्हारे दो भव ही शेष रहे हैं। इस भव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके आगामी भव में तुम भरतेक्षेत्र में २३वें तीर्थंकर बनोगे एवं सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करोगे। यह सुनकर राजा अत्यंत आनंदित हुआ। उसका नाम भी 'आनंद' था एवं भाव से भी आनंदित था।

अब श्री मुनिराज ने तीन लोक की जिनप्रतिमाओं का वर्णन किया। सूर्य विमान में भी शाश्वत जिनबिम्ब हैं, ज्योतिषीदेव उनकी पूजा-भक्ति करते हैं, इसका अद्भुत वर्णन सुनकर राजा अपने महल में से उनको नमस्कार करने लगा, एवं अयोध्यानगरी में भी वैसी ही रचना करवाने की इच्छा हुई। राज्य के उत्तम शिल्पकारों को आमंत्रित करके सूर्यविमान के सदृश ही एक सुंदर विमान निर्मित करवाया; एवं हीरे, माणिक, रत्नजड़ित सुंदर जिन प्रतिमा उस विमान

में स्थापित की। उस विमान की एवं उसमें विराजमान प्रतिमा की आश्चर्यकारी शोभा देखकर आनंद राजा के आनंद का पार नहीं रहा। वह प्रतिदिन प्रातःकाल -सायंकाल उनकी पूजा करने लगा। इसप्रकार राजा को सूर्यविमान स्थित जिनबिम्ब की पूजा करते देखकर प्रजाजन भी राजा का अनुसरण करके सूर्यविमान को नमस्कार करने लगे। राजा सूर्यविमान को नहीं-किंतु उसमें स्थित जिनबिम्बों को नमस्कार करता था—किंतु जिसप्रकार बाह्य जीव निश्चय को जाने बिना व्यवहार का सेवन करने लग जाते हैं, उसीप्रकार अन्यमती लोग भी जिनबिम्ब के बदले सूर्य की पूजा करने लगे।

आनंद राजा अनेक प्रकार से धर्म का आराधन कर रहे हैं। उनको विश्वास है कि जिनेश्वर के सदृश मेरी आत्मा का चिंतवन करता हुआ मैं भी जिन होऊँगा... ऐसी भावना सहित अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। एकबार आनंद राजा ने अपने सिर में श्वेत बाल देखे, एवं तुरंत ही उसका हृदय वैराग्य से परिप्लावित हो उठा कि अरे! यौवनावस्था के लाखों वर्ष व्यतीत होकर वृद्धावस्था तो आने लगी; यह श्वेत बाल मृत्यु राजा का संदेश लेकर आये हैं कि हे जीव! अब शीघ्र चारित्रदशा को अंगीकार करके आत्म-कल्याण कर ले। इसलिये अब आत्महित में एक समय का भी प्रमाद किये बिना आज ही इस संसार के सर्व परिग्रहों का त्याग करके मैं शुद्धोपयोगी मुनि हो जाऊँ एवं उपयोगस्वरूप अपने आत्मा में एकाग्र होकर चारित्रदशा को प्रगट करूँ।—ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक वह वैराग्य को दृढ़ करनेवाली बारह भावना का चिंतवन करने लगे:—

(१) यह शरीरादि संयोग एवं रागादि परभाव अध्रुव हैं; मेरा उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा ही मेरे लिये ध्रुव है, यही मेरा स्व है, एवं इसी के ध्यान से सुख है।

(२) मृत्यु के मुख में पड़े हुए रागादि में फँसे हुए जीव को अपनी ज्ञानचेतना के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, अरिहंत-सिद्ध-साधु एवं धर्म ऐसी दशारूप जो वीतरागभाव वही शरण है, अन्य सभी अशरण है। अपने शुद्ध आत्मा का ही शरण लेकर जिसने वीतरागभाव प्रगट किया उसको अन्य किसी का शरण नहीं लेना पड़ता है। जो स्वयं सुखी है, उसको अन्य के शरण की क्या आवश्यकता है ?

(३) अपने स्वभाव की साधना के द्वारा ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है; इसके अतिरिक्त

जो कोई भी बाह्य भाव है—अशुभ हो अथवा शुभ, वे सभी परभाव संसार हैं, दुःखमय हैं, चारगति के कारण हैं। परभावों का सेवन वह संसार, उससे मुक्त होने के लिये आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना करना।

(४) अपने स्वभाव के साथ एकत्व की साधना करने से परम सुख प्राप्त होता है। किंतु अपने एकत्व स्वभाव को भूलकर, राग-द्वेष के भावों द्वारा जीव दुःखी है; इसी प्रकार शरीरादि पदार्थ भिन्न होते हुए भी इनके साथ एकत्व मान-मानकर मोह से जीव महादुःखी हो रहा है। राग में एकतारूप पणिमन, यह मिथ्यात्व है; निजस्वरूप में ही एकतारूप परिणमन, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है—मुनिजन ऐसी एकत्व भावना में तत्पर रहते हैं।

(५) प्रज्ञा (ज्ञान) के द्वारा अनुभव में आनेवाला उपयोगस्वरूप आत्मा, वही मैं हूँ, उसके अतिरिक्त जो कोई भी रागादि बाह्य भाव हैं, वह सभी मेरे से अन्य हैं।—ऐसी भेदज्ञानरूप भावना, यह अन्यत्व भावना है।

(६) वास्तव में बाह्य पदार्थ अपवित्र (मलिन) नहीं हैं, किंतु मिथ्यात्वादि भाव ही आत्मा को मलिन करनेवाले होने से अशुचि (अपवित्र) हैं। त्रैकालिक निर्मल ज्ञानघनस्वरूप के आलंबन द्वारा इनका त्याग करके उपयोगस्वरूप पवित्र आत्मा की भावना करना चाहिये।

(७) आत्मा को मलिन करनेवाले, दुःख देनेवाले जो अज्ञानभाव हैं, वही आस्रव हैं; आत्मा के उपयोग में कर्म का प्रवेश नहीं है, इसलिये वह निरास्रव हैं। ऐसे उपयोग का अनुभव करने से आस्रव छूट जाते हैं।

(८) उपयोग को कहीं भी बाहर परभावों में नहीं ले जाते हुए अपने आत्मस्वरूप में ही लगाना, इसका नाम संवर है; भेदज्ञान के द्वारा ही ऐसा संवर होता है, वह महान आनंददायक है।

(९) शुद्धता की धारा के द्वारा कर्ममल को विशेष धो डालना, यह निर्जरा है, सम्यक्त्वपूर्वक तप से अधिक निर्जरा होती है, यही मोक्ष का कारण है।

(१०) जिसका कोई कर्ता नहीं, जिसका कभी नाश नहीं, ऐसा यह लोक है; यह अनंत अलोक के मध्य किसी भी प्रकार के अवलंबन से रहित सदा स्थित है; जीव का स्वभाव भी निरालंबी है। लोक में अनंत जीव हैं, वह आत्मज्ञान से रहित तीनलोक में जन्म-मरण करते हुए भ्रमण कर रहे हैं, एवं दुःखी हो रहे हैं। लोक में सर्व से भिन्न एवं लोक को जाननेवाला

ज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूँ—ऐसा ज्ञान करे तो लोक में परिभ्रमण दूर होकर जीव स्वयं सिद्ध भगवान होकर लोकाग्र में निवास करता है।

(११) संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीव को सभी सुलभ है, पुण्य तथा स्वर्ग भी सुलभ है, दुर्लभ तो एकमात्र रत्नत्रयरूप बोधिजीव ही है। यह बोधि जीव को महासुख देनेवाली है। ऐसी दुर्लभ-बोधि मुझे किसप्रकार प्राप्त हो? ऐसी भावना करने का उद्यम (पुरुषार्थ) करनेयोग्य है।

(१२) वस्तु का धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव क्या है? इसका चिंतवन करना चाहिए। जीव का स्वभाव अर्थात् जीव का धर्म तो चेतना है; इस चेतना में राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेषभाव, यह वास्तव में जीव का धर्म नहीं है। ऐसे चेतनास्वभावरूप धर्म को पहिचानकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतराग धर्म की अथवा उत्तम क्षमादि दस धर्म की उपासना करना चाहिये। यह धर्म ही जीव को सुख एवं मोक्ष प्रदान करता है।

—इसप्रकार यह बारह भावनाएँ वैराग्य की जननी हैं। इनका चिंतवन करने से वैराग्य दृढ़ होता है। आनंद-महाराजा ने ऐसी बारह भावनाओं का चिंतवन किया एवं परम वैराग्यपूर्वक सागरदत्त गुरु के समीप मुनिदशा ग्रहण की... मुनि होकर शुद्धोपयोग के द्वारा आत्मध्यान में एकाग्र हो गये। अतीन्द्रिय आनंद के समुद्र में डूब गये-मग्न हो गये... अहा! उनका आत्मा रत्नत्रय के प्रकाश से झलक उठा। उनकी वीतरागता आश्चर्य उत्पन्न करती थी। आत्मिक साधना में वह ऐसे लीन रहते थे कि बारह प्रकार के तप तो उनको सहज ही हो जाते थे; मुख्यतया ध्यान एवं स्वाध्याय में वे मग्न रहते थे। आनंद के वेदन में आहार की इच्छा सहज में ही छूट जाती थी और कष्ट से रहित उनको उपवास हो जाते थे। कभी आहार लेते तो भी रस की इच्छा से रहित, अमुक ही वस्तु का तथा वह भी भूख से अल्प ही लेते; एकांत स्थान में वन-जंगल में निवास करते; शरीर का ममत्व उन्होंने त्याग दिया था; अल्प दोष अथवा प्रमोद हो जाता तो सरल चित्त से प्रायश्चित करते थे; रत्नत्रयधारी गुरुओं के प्रति सेवा-विनय एवं वात्सल्य रहित आचरण रखते थे; चाहे जैसी ठंड-गर्मी तथा वर्षा में भी आत्मध्यान का त्याग नहीं करते थे।—इसप्रकार के तप सहित चारित्र की आराधना करते थे।

ऐसी उत्तम आराधना सहित स्वाध्याय में एकाग्रता से आनंद मुनिराज को बारह अंग का

ज्ञान प्रगट हो गया—श्रुतज्ञान का पवित्र समुद्र उल्लसित हुआ... अन्य भी अनेक ऋद्धियाँ उनको प्रगट हुई, किंतु उनका लक्ष चैतन्य ऋद्धि में ही था। आर्तध्यान अथवा रौद्रध्यान तो उनको था ही नहीं, वे धर्मध्यान में ही एकाग्र रहते हुए कभी शुक्लध्यान भी चिंतवन करते थे। ध्यान के समय वह अपने शुद्ध आत्मा में एक में ही उपयोग को एकाग्र करके निर्विकल्प-आनंद का अनुभव करते थे; उस समय सभी चिंतायें उनकी नष्ट हो जाती थी। अहा, ध्यान के समय तो मानो सिद्ध में एवं इनमें किंचित् भी अंतर नहीं रहता था। इनकी शांत मुद्रा का अवलोकन करके पशु भी आश्चर्यचकित हो जाते थे।

यह आनंद मुनिराज रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग में सदाकाल निश्चल रहते हुए बाईस परीषह को सहन करते थे। चाहे जैसी भूख, ठंड अथवा गर्मी, नग्न शरीर के ऊपर मच्छर इत्यादि जंतुओं के डंक लगते थे तो भी मोक्षमार्ग से किंचित् भी विचलित नहीं होते थे; अरति के समय में भी वह अरति का भाव नहीं रखते थे; स्त्रियों के चाहे जैसे हाव-भाव से किंचित भी उनका मन चलायमान नहीं होता था, विहार आसन, भूमिशयन संबंधी कष्ट में भी दु:खी नहीं होते थे; क्रोध से कोई कटु शब्द कहे अथवा मारे, तथापि स्वयं अपने मार्ग से चलित नहीं होते थे; आहारादिक की याचना नहीं करते थे; अनेक उपवास करने के बाद नगर में भोजन के लिये जाते हैं; योग्य आहारादि की प्राप्ति नहीं हो, तथापि शांति से अपने धर्मध्यान में स्थिर रहते थे; कभी शरीर में रोग आ जाये, वेदना हो, कांटे-कंकर लगें तो भी आर्तध्यान नहीं होने देते; स्वयं का तथा पर का मलिन शरीर देखकर वह अपने मन को मलिन नहीं होने देते-ग्लानि नहीं करते थे; लोगों के द्वारा मान-अपमान में उनको समभाव था; मैं रत्नत्रय-मार्ग में प्रवीण, महान तपस्वी हूँ, फिर भी मेरा संघ में मान-आदर नहीं है—ऐसा विकल्प नहीं करते थे; ज्ञान का विशेष विकास होते हुए भी उनको अहंकार नहीं था; अवधिज्ञान आदि प्रगट नहीं हुआ तो भी दु:खी नहीं होते थे; अनेक वर्षों तक तपश्चर्या करते हुए भी कोई ऋद्धि प्रगट नहीं हुई हो, एवं अन्य के ऋद्धि प्रगट होते देख दु:खी नहीं होते थे।—इत्यादिक प्रकार से बाईस परीषह को जीतते हुए यह आनंद मुनिराज आत्मशुद्धि की वृद्धि करते हुए कर्मों की निर्जरा करते थे।—अहो, ऐसा वीतरागी मुनिजीवन धन्य है, उनके चरण में हमारा मस्तक झुक जाता है।

यह मुनिराज बारंबार शुद्धोपयोगरूपी जल द्वारा चारित्र वृक्ष का सिंचन करते थे। वे चारित्र के महान कल्पवृक्ष थे। इस कल्पवृक्ष में मानो उत्तम फल लगे हों, इसप्रकार उत्तम

क्षमादि दस धर्म उनको प्रगट हुए थे। ऐसे मुनिराज को दर्शनविशुद्धि से लगाकर रत्नत्रय धर्म के प्रति परम वात्सल्य तक की सोलह भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बंध हो गया। सभी तीर्थंकर पूर्व भव में ऐसी उत्तम भावनाओं का चिंतवन करते हैं। एक ओर पुण्य का रस बढ़ रहा था तो दूसरी ओर चैतन्य-अनुभव के द्वारा वीतरागी शांतरस की भी वृद्धि हो रही थी। शिवपुर पहुँचने के लिये बीच में एक ही भव शेष रहा था; संसार संबंधी कोई भी इच्छा उनको अब नहीं रही थी, शरीर से भी वह सर्वथा विरक्त ही थे।

वे मुनिराज एक समय वन में अचल ध्यान में बैठे थे... बाहर का लक्ष त्याग करके निजस्वरूप में अवलोकन में ही वह एकाग्र थे। उनके सर्व प्रदेशों से आनंद के फब्बारे छूट रहे थे। इतने में वहाँ एक सिंह आया.... उसकी भयंकर गर्जना से संपूर्ण वन कम्पायमान हो गया... वन के पशु डरके मारे भागने लगे। छलांगें मारते हुआ वह सिंह वन में चारों ओर घूमने लगा। यह सिंह अन्य कोई नहीं, किंतु अपना परिचित कमठ का जीव ही है। उसकी दृष्टि ध्यान में बैठे हुए आनंदमुनि के ऊपर जाते ही क्रोध से भयंकर गर्जना करता हुआ, मुनिराज पर झपटा... परंतु वे तो निर्भयता से ध्यान में बैठे रहे। सिंह ने छलांग लगाकर उनका गला मुँह में पकड़ा एवं तीक्ष्ण पंजों से उनके शरीर को फाड़ा डाला!—

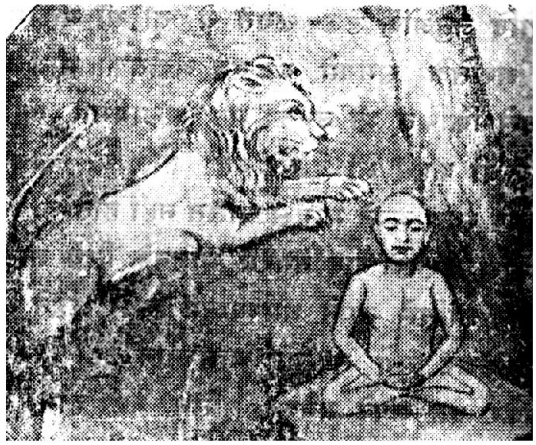

—अरे! उसको कहाँ भान था कि मैं अभी जिनके शरीर को फाड़कर खा रहा हूँ, यही एक समय मेरे गुरु होकर इस संसार में से मेरा उद्धार करेंगे! सिंह शरीर को खा रहा था, तब मुनिराज तो अपने उत्कृष्ट क्षमाभाव में ही रहे, उन्होंने सिंह के ऊपर किंचित् भी क्रोध नहीं किया... वीतरागमार्ग से किंचित् भी चलित नहीं हुए। वाह धन्य मुनिराज! चतुर्विध आराधना की अखंडता सहित प्राणों का त्याग करके वह आनत स्वर्ग में इन्द्र हुए। सिंह क्रूर भावों से मरकर फिर नरक में गया।

❀ (९) आनंदमुनि आनत स्वर्ग में और सिंह नरक में ❀

देवलोक के सोलह स्वर्ग में तेरहवाँ आनत स्वर्ग है; स्वर्ग की शोभा अद्‌भुत है; यहाँ रात्रि-दिवस का अंतर नहीं है, सदाकाल प्रकाश ही रहता है, देवों को थकान, निद्रा, रोगादि नहीं होते। सुवर्ण रत्नों की अद्‌भुत शोभावाले देवों के नगर हैं। पुण्य के प्रभाव से वहाँ अनेक कल्पवृक्ष एवं चिंतामणि भी सुलभ हैं। परंतु शास्त्रकार कहते हैं कि कल्पवृक्ष से तो फल मांगना पड़ता है, चिंतवन करना पड़ता है, तब फल देता है किंतु वीतराग धर्म तो ऐसा है कि इच्छारहित ही उत्तम फल प्रदान करता है, इसलिये धर्म ही श्रेष्ठ है। आनत स्वर्ग में उत्पन्न होनेवाले अपने चरित्रनायक का स्वर्ग में यह अंतिम अवतार है, आगे के भव में तो वे भगवान होंगे। स्वर्ग के कितने ही देव उनकी सेवा करने लगे। अवधिज्ञान से अपना पूर्वभव देखकर जैनधर्म में उनकी भक्ति-श्रद्धा दृढ़ हुई। देवलोक के अनेक भोगोपभोग के मध्य में भी वह जानते थे कि इन भोगों की इच्छा, यह तो अग्नि के समान है, विषयोंरूपी ईंधन के द्वारा वह कभी शांत होनेवाली नहीं है, वह तो चारित्ररूपी जल के द्वारा ही शांत होनेवाली है। इस देवलोक में तो चारित्रदशा नहीं है; वह तो मनुष्य को ही प्राप्त होती है। अब मनुष्य होकर हम अपनी चारित्रदशा पूर्ण करेंगे एवं फिर से इस संसार के चक्कर में नहीं पड़ेंगे। इसप्रकार चारित्रदशा की भावनापूर्वक, सम्यक्त्व की आराधनासहित वह देवलोक में असंख्य वर्ष तक रहे। वह बारंबार जिनभक्ति के महोत्सव करते हुए देवों की सभा में उत्तम धर्मोपदेश देते थे। उनके उपदेश द्वारा स्वर्ग के कितने ही देवों को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ।

उनकी आयु जब छह मास शेष रही, तब वाराणसी (बनारस-काशी) नगरी में पारसनाथ-तीर्थंकर अवतार की तैयारी हुई।—वह देखने के लिये पौष कृष्णा ११ के पहले हम उस नगरी में पहुँच जायेंगे.... एवं प्रभु के जन्मोत्सव में आनंद से भाग लेंगे।

(आगामी अंक में पारसनाथ प्रभु का जन्म)

अमृतचंद्रसूरि अनेकांत का अमृत पिलाते हैं

[१४ बोलों के द्वारा ज्ञानमात्र आत्मा के अनेकांत स्वरूप की पहिचान]

[लेखांक - २ : गतांक से आगे]

अहो, अनेकांत तो वस्तु का स्वरूप है, वह जैन सिद्धांत का प्राण है। अनेकांत ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्रसिद्ध करके सच्चा जीवन जिलाता है। अनेकांत का स्वरूप समझाकर आचार्यदेव ने वीतराग-रस का अमृत पिलाया है। अनेकांत के १४ बोलों में से छह बोलों के प्रवचन गतांक में आ चुके हैं, शेष यहाँ दिये जा रहे हैं।

समयसार की ४१५ गाथा में आचार्यदेव ने अनेक प्रकार से स्पष्ट करके ज्ञानस्वरूप आत्मा बतलाकर रागादि समस्त परभावों से भिन्न ज्ञानमात्र ही आत्मा है तथा ऐसे आत्मा के अनुभव से ही आत्मा परम आनंदरूप परिणमित होता है—ऐसा समझाकर, ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव करने के लिये कहा है। इस ज्ञानमात्र आत्मा को स्वयमेव अनेकांतपना किसप्रकार है—यह बात आचार्यदेव ने इस परिशिष्ट में स्पष्ट की है।

'ज्ञानमात्र' कहते हुए भी आत्मा को स्वयमेव अनेकांतपना प्रकाशित करता है। क्योंकि:—

(१) ज्ञानमात्र आत्मा को स्वरूप से तत्पना है।

(२) पररूप से अतत्पना है।

(३) ज्ञानमात्र आत्मा को द्रव्य से एकपना है।

(४) पर्याय से अनेकपना है।

(५) ज्ञानमात्र भाव को स्वद्रव्य से सत्पना है।

(६) परद्रव्यों से असत्पना है।

(७) ज्ञानमात्र भाव को स्वक्षेत्र से आस्तिपना है।

(८) परक्षेत्र से नास्तिपना है।

(९) ज्ञानमात्र भाव को स्वकाल से सत्पना है।

(१०) पर काल से असत्पना है।

(११) ज्ञानमात्र आत्मा को स्व-भाव से सत्पना है।

(१२) परभाव से असत्पना है।

(१३) ज्ञानमात्र भाव से ज्ञान-सामान्यरूप से नित्यपना है।

(१४) ज्ञान-विशेषरूप से अनित्यपना है।

[अनेकांत के इन १४ बोलों में से ६ बोलों का विस्तार गतांक में आपने पढ़ा, शेष बोलों का विस्तृत विवरण यहाँ पढ़िये।]

(७-८) ज्ञानमय आत्मा का स्वक्षेत्र से अस्तित्व, परक्षेत्र से नास्तित्व

ज्ञान का अस्तित्व अपने असंख्य प्रदेशरूप स्वक्षेत्र में है, जितना आत्मा का स्वक्षेत्र है, उसी में ज्ञान का अस्तित्व है, ज्ञान के स्वक्षेत्र में परक्षेत्ररूप ज्ञेय जानने में आते हैं, वहाँ मानो यह ज्ञान परक्षेत्ररूप हो गया—ऐसा अज्ञानी मानता है। किंतु भाई! तेरा ज्ञान पर को जानता है, फिर भी वह अपने स्वक्षेत्र से बाहर जाता नहीं है। बाह्य में दूर-अतिदूर परक्षेत्र में रहनेवाले ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान कहीं अपने से बाहर निकलकर वहाँ नहीं जाता है। ज्ञान तो ज्ञान के स्वक्षेत्र में ही रहता है। समवसरण का क्षेत्र हो, वहाँ उसका ज्ञान करके अज्ञानी ऐसा एकाकार होकर प्रसन्न होता है कि मानो इस क्षेत्र में से मेरा ज्ञान आयेगा! अथवा अन्य कोई क्षेत्र मेरे ज्ञान को नष्ट कर देगा—ऐसा अज्ञानी मानता है। किंतु भाई! तेरे ज्ञान की उस परक्षेत्र में तो नास्ति है। तेरे आत्मक्षेत्र में ही तेरे ज्ञान की अस्ति है तथा परक्षेत्र में नास्ति है। इसलिये उसमें से तेरा ज्ञान किंचित् भी नहीं आता, अथवा उससे तेरा ज्ञान नष्ट नहीं होता। परक्षेत्र से ज्ञान होना माने, वह तो पर के सामने ही देखा करता है; इसलिये ज्ञान का सम्यक्त्वादिरूप जीवन उसको कहाँ से प्रगट होगा? किंतु ज्ञान का परक्षेत्र से नास्तिपना समझेगा तथा स्वक्षेत्ररूप ज्ञान से ही अस्तिपना जानेगा तो स्वसन्मुख दृष्टि से सम्यक्त्वादिरूप ज्ञान-जीवन प्रगट होगा।

परक्षेत्र में रहनेवाले अनेक ज्ञेयों के आकार ज्ञान में दिखलाई देते हैं तो भी ज्ञान उन

परज्ञेयों के आकाररूप नहीं हुआ है; ज्ञान में वह जानने में आते हैं, वह तो स्वक्षेत्र में रहे हुए ज्ञान की वैसी अवस्था है। अज्ञानी परज्ञेयों के आकार का त्याग करने के लिये उसके ज्ञान को ही छोड़ देना चाहता है, मानो परक्षेत्र में स्थित ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश कर गये हों, ऐसा मानकर वह परज्ञेय को जाननेरूप ज्ञान का भी त्याग कर देना चाहता है, किंतु भाई! तेरे ज्ञान के स्वक्षेत्र में कोई परद्रव्य आया नहीं है, परद्रव्य तो परक्षेत्र में है एवं उनका जो ज्ञान होता है, वह तो तेरे स्वक्षेत्र में ही है। इसप्रकार ज्ञान का स्वक्षेत्र से सत्पना है एवं परक्षेत्र से असत्पना है—इसप्रकार अनेकांत के द्वारा तू पहिचान कि परज्ञेय परक्षेत्र में एवं मेरा ज्ञान मेरे स्वक्षेत्र में है—इसप्रकार भिन्न ज्ञान का अनुभव किया-वही सच्चा जीवन है।

'ज्ञानमय मैं हूँ'—ऐसा स्वसन्मुख होकर अनुभव करने से 'ज्ञान से विरुद्ध अन्य वस्तु मैं नहीं' इसप्रकार पर की नास्ति भी इसमें आ जाती है। ज्ञान का ऐसा अनेकांत जीवन, यह जैनशासन का सार है। ज्ञानमात्र कहने से परभावों का निषेध हो जाता है किंतु स्वधर्म का निषेध नहीं होता है; स्वधर्म तो ज्ञान के साथ स्वयमेव उल्लसित होते हैं।

(९-१०) ज्ञानभाव का स्वकाल से सत्पना; परकाल से असत्पना

आत्मा की ज्ञानपर्याय ज्ञेयपदार्थों को जाननेरूप स्वकाल में अपने से परिणमित होती है, ज्ञानपर्याय, वह अपना स्वकाल है; स्वकाल से ज्ञान का सत्पना है। इसके बदले परज्ञेयों की पूर्वपर्याय नष्ट होने के समय अज्ञानी अपने ज्ञान का भी नाश मान लेता है। ज्ञेय की पर्याय यह परकाल है, इसका विनाश होने से ज्ञान तो अपने स्वकालरूप पर्याय में प्रतिसमय वर्त रहा है। ज्ञानपर्याय का स्वकाल से सत्पना अपने से है, किसी परज्ञेय से उसका सत्पना नहीं है, परकाल से तो वह असत् है।

परज्ञेयों का अवलंबन, वह भी वास्तविकता से परकाल है, पर के अवलंबन के समय ही मेरी ज्ञानपर्याय सत् है अर्थात् परज्ञेय से ही मेरी ज्ञानपर्याय होती है, ऐसा अज्ञानी मानता है; उसको अनेकांत के द्वारा समझाते हैं कि हे भाई! तेरा ज्ञान तेरी ज्ञान-पर्याय से अर्थात् स्वकाल से सत् है, एवं परकाल से असत् है। प्रतिसमय स्वकालरूप पर्यायरूप परिणमित हो, ऐसा ज्ञान का स्वरूप है, वह अपने से ही है। सामने परज्ञेय का परिणमन है, यह परकाल है; उसके कारण कहीं यहाँ ज्ञान का परिणमन नहीं है। इसप्रकार ज्ञान का स्वकाल से सत्पना तथा परकाल से

असत्पना बतलाकर अनेकांत जीवित रखता है। भाई! तेरा ज्ञान तेरे स्वकाल से जीवित है। तेरा ज्ञान सत् है, वह स्वकाल रहित नहीं है, प्रतिसमय ज्ञानपर्यायरूप स्वकाल स्वयं से ही है। ऐसे अनेकांतस्वरूप द्वारा जैनदर्शन विश्व के एकांत मतों से भिन्न हो जाता है; अहो! यह तो सर्वज्ञदेव ने देखा हुआ वस्तुस्वरूप है। यह कहीं भगवान ने बनाया नहीं है, किंतु जैसा था, वैसा अतीन्द्रिय ज्ञान से प्रत्यक्ष जानकर दिव्यध्वनि द्वारा बतलाया है।

एक ज्ञेय का अवलंबन छूट गया, इससे कहीं ज्ञान का नाश नहीं हो जाता है, ज्ञान वर्तमान-वर्तमान स्वपर्यायरूप हुआ करता है, वह स्वकाल से जीवित है। ज्ञेय का अवलंबन छूट जाने से ज्ञान मरता नहीं है, ज्ञेय के अवलंबन बिना अपने स्वभाव से ही ज्ञानस्वरूप आत्मा ज्ञानपर्यायरूप स्वकाल से परिणमित होता है, यही इसका जीवन है। राग के समय ज्ञान, राग को जाननेरूप परिणमित हुआ, तो उस समय कहीं राग के कारण ज्ञान का असितत्व नहीं है; ज्ञान का अस्तित्व ज्ञान की स्वपर्याय से है, एवं राग से तो इसका असत्पना है।—इसप्रकार अनेकांत के द्वारा ज्ञानरूप ही अपना अस्तित्व स्वीकार करता हुआ जीवित है। अज्ञानी को तो ऐसी भ्रमणा है कि परज्ञेय की पर्याय के कारण ही ज्ञानपर्याय होती है—किंतु उसकी वह भ्रमणा अनेकांत के द्वारा दूर हो जाती है। अनेकांत उसे समझाता है कि भाई! तेरा अस्तित्व तेरी ज्ञानपर्याय में है, परपर्याय में तेरा अस्तित्व नहीं है।—ऐसे अनेकांतस्वरूप ज्ञान को तू पहिचान; उसको पहिचानने से स्वाश्रित ज्ञानपर्यायरूप तेरा स्वकाल प्रगट हो जायेगा, तुझे अन्य किसी का अवलंबन नहीं लेना पड़ेगा। तेरे ज्ञान की पर्याय, यह तेरा स्वकाल है, यह स्वकाल अपने से ही है, परकाल के कारण नहीं है।—ऐसे स्वाधीन ज्ञान की प्रतीति में वस्तुस्वरूप ज्यों का त्यों रहता है, इसलिये वह प्रतीति सच्ची होती है, सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं।

—अनेकांत यह जैनदर्शन का प्राण है, यह धर्म का प्राण है; इसके बिना तो सभी निर्जीव हैं, इनमें सम्यग्ज्ञानरूप जीवन नहीं, धर्म नहीं है। सर्वज्ञ भगवान का शासन अर्थात् अनेकांत; वह ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव करवाता है।

(११-१२) ज्ञान का अपने स्व-भाव से सत्पना; पर-भाव से असत्पना

ज्ञान अपने सामर्थ्य के कारण अनेक प्रकार के परभावों को जानता है, किंतु स्वयं कहीं उन परभावोंरूप नहीं हो जाता। ज्ञान तो अपने ज्ञानभावरूप ही रहता है; इसलिये अपने भाव से

वह सत् है और परभाव से असत् है।

ज्ञान में रागादि परभाव जानने में आयें अथवा शरीर की अवस्था जानने में आये; वहाँ मैं ही राग हूँ, तथा मैं शरीर हूँ—इसप्रकार अज्ञानी अपने को परभावरूप मानता हुआ स्वतंत्र ज्ञानभावरूप अपने अस्तित्व को नहीं देखता। उसको अनेकांत जीवित रखता है कि हे भाई! तेरे ज्ञान का जीवन, अर्थात् ज्ञान का सत्पना तेरे ज्ञानभाव से ही है, परज्ञेय के तेरा सत्पना नहीं है; उसके कारण तेरे ज्ञान का जीवन नहीं है।

ज्ञान में राग ज्ञेयरूप से जानने में आता है, किंतु वहाँ ज्ञान तथा राग दोनों भिन्न हैं। राग को जाननेवाला ज्ञान, राग के साथ तन्मय नहीं होता है। राग को जाननेवाला ज्ञान स्वयं को ज्ञानरूप प्रसिद्ध करता है कि 'मैं ज्ञान हूँ'।—किंतु स्वयं को रागरूप प्रसिद्ध नहीं करता है कि 'मैं राग हूँ'। ज्ञान अपने ज्ञानभावरूप ही परिणमित होता है। इसलिये ज्ञान का स्व-भावरूप से सत्पना है; ज्ञान परज्ञेयोंरूप परिणमित नहीं होता, इसलिये ज्ञान का परभावरूप से असत्पना है। ऐसा अनेकांत ज्ञान, वह आत्मा का स्वरूप है।

मेरे ज्ञानस्वभाव में अचिंत्य शक्तिरूप जो भाव हैं, वह मेरे से ही सत् है; अनंत सुख अनंत परमेश्वरतारूप मेरा भाव, उनसे मेरा ज्ञान सत् है; एवं जो अन्य परभाव हैं, उनसे ज्ञान असत् है अर्थात् ज्ञान उन परभावोंरूप नहीं होता। अहो, ज्ञान का अपना सत्भाव कैसा है? परभावों से भिन्नता किसप्रकार है? यह अनेकांत के द्वारा समझ में आता है।

केवलज्ञानादि अचिंत्य सामर्थ्य से भरे हुए ज्ञायकभावरूप जो निजभाव है, उसरूप मेरा ज्ञान सत् है; एवं वज्रवृषभनाराचसंहनन इत्यादि जो पुद्गल के भाव हैं, उन परभावोंरूप मेरा ज्ञान परिणमित नहीं होता है, इसलिये उनसे नास्तिरूप है; मेरा ज्ञान स्वयं ही ऐसा अनेकांत स्वरूप है। मेरे ज्ञान में परभाव भले ही जानने में आते हैं, किंतु मेरा ज्ञान कहीं उन परभावरूप परिणमित नहीं होता, उनसे कहीं मेरा जीवन नहीं है, उनके कारण ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। ज्ञानभावरूप जो निजभाव हैं, उनसे ही मेरा जीवन है, उनमें ही मेरा अस्तित्व है। ज्ञान अपने निजभाव का कभी त्याग नहीं करता; एवं परभाव को ग्रहण नहीं करता।—इसप्रकार अनेकांत के द्वारा स्वभाव तथा परभाव से अत्यंत भिन्नता पहिचानकर ज्ञानी परभावों से भिन्नरूप एवं निज स्वभाव से अभिन्नरूप आत्मा को जीवित रखता है—अर्थात् आत्मा को ऐसे सम्यग्ज्ञानरूप

परिणमित करता है। ज्ञान के परिणमन में परभाव के अंश को भी सम्मिलित नहीं करता, ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ मोक्ष की साधना करता है।

अहो, यह अनेकांत जैनधर्म का मूल है, इसके द्वारा संसार का अंत किया जा सकता है।

(१३-१४) ज्ञानसामान्यरूप से नित्यपना, ज्ञानविशेषरूप से अनित्यपना

चैतन्यस्वभव का पिंड आत्मा, उसमें जड़ शरीर की तो बात नहीं, राग का भी चेतनभाव में प्रवेश नहीं है; अब ज्ञान की ज्ञान में ही सब क्रीड़ा है। चैतन्यस्वरूप आत्मा को सामान्यरूप से देखो तो उसे नित्यपना है; एवं प्रतिक्षण बदलती हुई विशेषाानपर्यायरूप से देखो तो अनित्यपना है। ऐसे दोनों धर्म ज्ञान में समाविष्ट हैं—ऐसा ज्ञान का अनेकांतस्वरूप है।

ज्ञान में अनित्य पर्यायों को देखकर भ्रम से अज्ञानी को ऐसा हो जाता है कि 'अरे, मेरा नित्यपना नष्ट हो जायेगा!' किंतु भाई! अनित्य ज्ञानपर्यायरूप परिणमित होते हुए भी तेरे ज्ञान का नित्यपना नष्ट नहीं हुआ है। नित्य रहते हुए भी उसमें परिणमन भी है, इसप्रकार ज्ञान में पर्याय-अपेक्षा अनित्यपना होना, यह कहीं दोष नहीं है, किंतु अनित्यपना तो ज्ञान का स्वरूप ही है। नित्यपना तथा अनित्यपना, यह दोनों ज्ञानमात्र भाव में समाविष्ट हैं, ऐसा अनेकांतस्वरूप ज्ञान है।

ज्ञान की प्रतिक्षण परिवर्तित अवस्था को देखकर, ज्ञान को केवल क्षणिक ही मान लेने से नित्यस्थायी अपने चैतन्य जीवन को अज्ञानी भूल गया; तब अनेकांत उसको चैतन्य का नित्यपना बतलाता है कि हे भाई! अवस्थाएँ परिवर्तित होते हुए भी ज्ञानतत्त्व ध्रुवरूप नित्य स्थिर रहनेवाला है। परिवर्तित भी होता है एवं नित्य भी रहता है—इसप्रकार दोनों स्वभावरूप ज्ञान को अनेकांत बतलाता है। ध्रुव नहीं मानकर केवल पर्याय को माने; अथवा पर्याय से अनित्यपना नहीं मानकर केवल ध्रुवता माने तो उसको ज्ञानतत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञान तो एकरूप ही होना चाहिये; उसमें फिर अनेकपना क्यों? अनेक भेदरूप चैतन्यपरिणमन कैसा?—ऐसा मानकर अपनी चैतन्य परिणति को ही अज्ञानी छोड़ देना चाहता है किंतु स्वयमेव प्रकाशित अनेकांतमय ज्ञानतत्त्व, उसको जाननेवाला ज्ञानी तो ऐसा अनुभव करता है कि नित्य उदित ऐसा मेरा ज्ञान ही इस भिन्न-भिन्न चैतन्य परिणतिरूप परिणमित होता है। इसप्रकार पर्याय को ध्रुवज्ञान में ले जाकर वह अपने ज्ञान का स्पर्श करके आनंद का अनुभव करता है।

ध्रुवता का निर्णय पर्याय में होता है; किंतु अकेला क्षणिक पर्याय को ही देखनेवाला अज्ञानी ज्ञानतत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता। ध्रुवस्वभाव के सन्मुख हुआ ज्ञान अपनी निर्मल चैतन्य परिणति में उल्लसित होता है; उससे आत्मा भिन्न नहीं है। एकांतवादी उस उल्लसित होनेवाली निर्मल चैतन्यपरिणति से भिन्न आत्मतत्त्व चाहता है—मानता है; किंतु भाई! चैतन्यवस्तु अपनी वृत्ति के प्रवाह में वर्तती है, उस चैतन्यवृत्ति से भिन्न तो आत्मा होता नहीं।

अहो, अनेकांत का रहस्य वीतरागी संतों ने प्रगट कर दिया है। एक ही ज्ञानतत्त्व में कथंचित् नित्यपना एवं कथंचित् अनित्यपना समझाकर, ज्ञान के अनुभव द्वारा आत्मा को आनंद प्राप्त कराते हैं।

ज्ञान को पर्याय से अनित्यपना भी है; अनित्यपना, वह मलिनता नहीं, दोष नहीं, उपाधि नहीं, किंतु ज्ञान का ही वैसा स्वरूप है कि नित्य रहता हुआ भी प्रतिक्षण निर्मल-चैतन्य परिणामरूप भी वह होता है। ज्ञान में उल्लसित जो निर्मल परिणति, वह उल्लसित चेतना परिणति आत्मा से कहीं भिन्न नहीं है। एकांत ध्रुव की आशा से (वेदांत के समान) अपनी पर्याय को ही कोई छोड़ देना चाहता हो तो उसको ज्ञानतत्त्व ही अनुभव में नहीं आ सकता। नित्य-अनित्यपने सहित ज्ञानतत्त्व का अनुभव करने से आनंदसहित आत्मा अनुभव में आता है। उसमें परभाव का अभाव है किंतु पर्याय का अभाव नहीं है। अहा! आचार्यभगवान ने अनुभव का उल्लास इस समयसार में उतारकर भव्य जीवों के ऊपर महान कल्याण करके उपकार किया है।

भगवान महावीर जब मोक्ष पधारे... तब देवों ने महान उत्सव किया था, इसको तो २४९७ वर्ष हो गये और (कार्तिक कृष्णा अमावस्या से) २४९८वाँ वर्ष प्रारंभ हुआ। दो वर्ष के पश्चात् ढाई हजार वाँ वर्ष प्रारंभ होगा, तब भारत में इसका महान उत्सव मनाया जायेगा। भगवान महावीर ने मोक्ष जाने से पहले अरिहंतपद से ऐसे अनेकांत तत्त्व का उपदेश दिया था। ज्ञानस्वरूप आत्मा का सत्य स्वरूप बतलाकर भगवान ने जगत के जीवों को सच्चा जीवन प्रदान किया था; क्योंकि अज्ञान से अपने आत्मा की नास्तिकता थी-आत्मा का अनुभव नहीं था, अर्थात् भावमरण था, इससे विपरीत अनेकांत के द्वारा आत्मा का सच्चा स्वरूप समझने से आत्मा के आनंद के अनुभवरूप जीवन प्रगट होता है। इसप्रकार अनेकांत द्वारा ज्ञानस्वरूप

समझाकर भगवान महावीर ने जीवों को भावमरण से मुक्त करके चैतन्य का सच्चा जीवन प्रदान किया था।

अनेकांतमय आत्मतत्त्व को जिनवाणी ने ही बतलाया है; ऐसा अलौकिक वस्तुस्वरूप अन्य कोई भी नहीं समझा सकता है। किसी ने ध्रुव का त्याग किया तो किसी ने पर्याय का त्याग किया। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप तत्त्व प्रतिसमय अपने से परिपूर्ण वर्त रहा है।—उसको अनेकांतमय जिनवाणी ही बतलाती है। भाई! तेरे ज्ञान में उत्पाद-व्ययरूप पर्याय, वह कहीं भ्रम नहीं है; उत्पाद-व्यय तो मोक्ष में सिद्ध भगवंतों को भी होता है; उनको राग-द्वेष तो नहीं है किंतु नवीन-नवीन आनंद पर्यायें तो होती ही हैं, अपनी अवस्था से भिन्न वस्तु नहीं है। भाई, ध्रुवपना भी तू पर्याय के बिना किससे पहिचानेगा? ध्रुव को जानती तो है पर्याय; उस पर्याय की ही तू नास्ति मानेगा तो ध्रुव को भी सच्चे रूप में स्वीकार नहीं कर सकेगा। आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से परिवर्तित है,—इसप्रकार धर्मी जीव नित्य-अनित्य स्वरूप आत्मा को अनुभव में लेता है। इसप्रकार अनेकांत के द्वारा ही ज्ञानमय आत्मतत्त्व सिद्ध होता है अर्थात् अनुभव में आता है; ज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं अपने अनुभव में आता है। अनेकांत के द्वारा आचार्य भगवान ने ऐसा स्वरूप बतलाकर आनंदमय आत्मा का अनुभव करवाया है। ऐसे अनुभव में अनंत शक्ति की निर्मल पर्यायों सहित भगवान आत्मा उल्लसित होता है, यही सच्चा आत्म-जीवन है।

जय जिनेन्द्र..... जय अनेकांत

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

'मैं परमात्मा हूँ'—ऐसे अपने स्वभाव को अस्वीकार करके जो रागादिभावरूप ही आत्मा का अनुभव करता है, वह जीव स्वभाव-सत्ता का अनादर करके नास्तिक बन जायेगा। तथा राग से पार मेरी चैतन्यसत्ता में परमात्मपना विद्यमान है—ऐसे स्वभाव का अनुभव करनेवाला ज्ञानी राग को तोड़कर अतीन्द्रिय परमात्मा बनेगा; अन्य जीव इन्द्रियों द्वारा जिसका अस्तित्व न जान सकें—ऐसे सिद्धपद की उसे प्राप्ति होगी।

☆★☆★☆★☆★☆★☆★

भगवान महावीर और उनका जन्मोत्सव

[महावीर जयंती के अवसर पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

आज भगवान महावीर का जन्मकल्याणक दिन है। वह भरतक्षेत्र के अंतिम तीर्थंकर थे। इंद्रों ने उनका जन्मोत्सव मनाया था। तीर्थंकर होने के कारण उनका जन्म बहुत जीवों को संसार से पार होने में निमित्त है। उनमें ऐसी महान योग्यता थी कि वे अपनी उन्नति-क्रम में आगे बढ़ते-बढ़ते उग्र पुरुषार्थ करके परमात्मा हुए।

महावीर प्रभु को, यहाँ जन्म लेने से पूर्व के भव में देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान तो था ही; सम्यग्दर्शन प्राप्त करके आत्मा में अपूर्व वीररस प्रगट किया था। आत्मा में अनंत शक्तियाँ एक ही साथ विद्यमान हैं—ऐसी दृष्टि उनको वर्तती थी।

सम्यग्दर्शन होने के बाद, 'मैं पूर्ण होऊँ व जीव धर्म को प्राप्त करें', ऐसा विकल्प आने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ और कुंडलपुर में सिद्धार्थ राजा के घर त्रिशलादेवी की कुक्षि से भगवान महावीर ने जन्म लिया। अंतर में भगवान आत्मा का मूल्य उन्होंने समझा। पूर्व अनंत काल में आत्मा का मूल्यांकन नहीं किया था, किंतु संयोग व पुण्य-पाप के विकार का ही मूल्य समझा था, उसी के गुणगान किये थे। उससे विपरीत जब अंतर अवलोकन में वीर्य की शक्ति लगायी कि यह आत्मा अनंतज्ञानमय पूर्ण सामर्थ्यवाला है, परमात्मा होने के योग्य है, स्वभावदृष्टि से देखने पर वर्तमान में भी मैं परमात्मा हूँ—ऐसी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उग्र पुरुषार्थ से आत्मा में स्थिरता द्वारा अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य प्रगट हुए।

अनंतगुणरूपी संपदा से भरे हुए अखंड स्वभाव में एकाग्र होकर पूर्ण हुए, इसलिये उनको जन्म से महान व तीर्थंकरपद के कारण पूज्य मानकर इंद्र जन्मकल्याणक मनाने के लिये मेरुपर्वत पर ले जाते हैं। जन्म से ही उनके वज्रकाय (वज्र जैसा दृढ़ शरीर) होता है। जन्माभिषेक के समय क्षीरसमुद्र के जल से भरे हुए हजारों कलशों से स्नान कराते हैं, तथापि उन्हें किंचित् बाधा नहीं पहुँचती।

उनकी देह का रूप व आत्मा की महिमा अचिंत्य है। इन्द्र हजार नेत्र बनाकर देखता है तो भी उसे तृप्ति नहीं होती। तीर्थंकर पुण्य में पूर्ण व पवित्रता में भी पूर्ण है। उनको पहिचानकर उनका जन्मकल्याणक असंख्य देवों सहित इन्द्र मनाते हैं और कहते हैं कि–अहो! कैसा महान आत्मा! धन्य अवतार! इसप्रकार प्रशंसा करते हैं।

अज्ञान के कारण अनंतबार शरीर, वाणी, पुण्य–पापके विकार व उनके फल में बड़प्पन माना, उसकी महिमा और ममता में मरता रहा, किंतु जब दृष्टि को बदलकर राग से अधिक अर्थात् भिन्न व स्वभाव में परिपूर्ण होकर, अंतर में एकाग्रता करके पूर्ण स्वरूप के अवलोकन में अपनी शक्ति को लगाया तो पूर्ण परमात्मा हो गये। ऐसे भगवान महावीर का जन्मकल्याणक महोत्सव इन्द्रों द्वारा मनाया जाता है।

अहो! इन्द्र आकर नृत्य करते थे, भगवान के माता–पिता के पास आकर तांडव नृत्य करके भक्ति से उनकी महिमा गाते थे। इन्द्र एकावतारी है, इन्द्राणी भी एकावतारी है। वे भक्ति के उल्लासपूर्वक नाचते हैं। अहो! यह आत्मा इसी भव में परम पवित्रता से परमात्मपद प्राप्त करेंगे! अनादि–अनंत संसार को तोड़कर इस भव में सादि–अनंत परमानंद को पूर्ण करने का काम करेंगे!

इन्द्रों को खबर है कि हमने भी निर्मल श्रद्धा से आत्मा का श्रद्धान किया है; हम अल्पकाल में मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं!—ऐसी निःशंक श्रद्धा है, फिर भी जैसे माता–पिता के पास बालक नाचता है, उसीप्रकार जगत्पिता तीर्थंकर का जन्म देखकर इन्द्र नाच उठते हैं। अंतर में भेदज्ञान से आत्मा का भान है, बाह्य में नम्रता–विनय है। इन्द्र स्वयं चौथे गुणस्थानवर्ती हैं, तीर्थंकर भी जन्म के समय में चौथे गुणस्थानवर्ती हैं, फिर भी उनको धर्म का नायक जानकर उनके प्रति ऐसी भक्ति का उल्लास इन्द्र को आ जाता है।

आज के मंगल दिन वीर भगवान ने जन्म लिया था, आत्मा का उत्तम वीर्य (बल) प्रगट करके अनेक योग्य जीवों को पवित्र आत्मबल प्रगट करने में निमित्त हुए; इससे उनका कल्याणक मनाया जाता है।

चैत्र सुदी १३ (संवत् १९९१) के दिन सोनगढ़ में आकर वेश–परिवर्तन किया था, उसको आज ३५ वर्ष पूर्ण होकर ३६वाँ वर्ष प्रारंभ होता है।

महावीर प्रभु ने तो परिवर्तन करके पर्यायरूप से संपूर्ण आत्मा बदल दिया, असंख्य प्रदेशों में अनंत केवलज्ञानरूपी अनंत सूर्य प्रगट करके परमात्मा हुए! उनके जन्मोत्सव पर, धन्य घड़ी, धन्य अवतार, धन्य भाग्य! ऐसा इन्द्र-इन्द्राणी को भी भक्ति-उत्साह आता है। वीर प्रभु ने इस भव में भगवती दीक्षा अंगीकार की, चैतन्य के पूर्ण स्वरूप में इतनी प्रीति जागृत हुई कि चारित्रदशा में आनंदामृत के सागर उछलने लगे; आत्मा अमृत का सागर है! अंदर में पूर्ण आनंद भरा है! अंतर में एकाग्रता से आनंद का सागर उछलने लगता है। भगवान ने उग्र पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्राप्त किया व कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन, (चतुर्दशी की पिछली रात्रि में) पावापुरी से निर्वाण प्राप्त किया! केवलज्ञान पाने के बाद तीर्थंकर को इच्छा के बिना उत्कृष्ट वाणी का योग होता है! उसको दिव्यध्वनि कहते हैं! उस दिव्यध्वनि का सार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रगट किया है! उनको इस भव में भगवान महावीर का साक्षात् योग नहीं था, मात्र उनकी परोक्ष भक्ति थी, किंतु महाविदेहक्षेत्र में जहाँ साक्षात् सीमंधर भगवान विद्यमान हैं, उनकी प्रत्यक्ष भक्ति की है! देखो, उनका पुण्य कैसा व पवित्रता कितनी!

श्री प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका में अलिंगग्रहण के पाँच बोल निम्नप्रकार हैं—(१) इन्द्रिय-ज्ञान से जानने का काम करे अथवा इन्द्रियों के आलंबन से जाने, उसे आत्मा नहीं कहते, (२) इन्द्रियों से जानने में आये, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो, ऐसा आत्मा नहीं है; (३) इन्द्रियगम्य चिह्न द्वारा जानने में आये, ऐसा आत्मा नहीं है; (४) दूसरों के द्वारा—अकेले परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं है; स्वसंवेदन ज्ञान में (निश्चय स्वज्ञेय में) जिसने अपने आत्मा को नहीं जाना, वह दूसरे के आत्मा को मात्र अनुमान से नहीं जान सकता! (५) आत्मा केवल अनुमान करनेवाला ही नहीं है; (६) किसी बाह्य चिह्न से, पराश्रय से नहीं किंतु जो अंतर्मुख-ज्ञानस्वभाव से ही जानने में आये, ऐसा आत्मा है!

अनंतकाल से दूसरों की महिमा की, किंतु अपनी चैतन्यसत्ता का मूल्यांकन करना नहीं आया। परद्रव्य के माहात्म्य से स्वद्रव्य का माहात्म्य नहीं आयेगा। शरीर, इन्द्रिय आदि का साधन ठीक हों तो धर्म हो, व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग हो तो लाभ हो, इसप्रकार संयोग व विकार से आत्मा की प्रतीति नहीं होती।

जो ज्ञान वर्तमान में पराश्रय में ढलता है, वह ज्ञान स्वभाव की ओर ढले तो हित हो। अखंड स्वज्ञेय की ओर ढलने से ज्ञानस्वभाव के द्वारा जानने में आये, ऐसा आत्मा स्वानुभव-

प्रत्यक्ष है। आत्मनिर्णय में यथार्थपना लाकर, ज्ञान को अंतर्मुख करने से एकरूप स्वभाव के वेदन से ही सम्यग्दर्शन व भेदज्ञान होता है, उस भेदज्ञान को आत्मधर्म कहा है।

ध्रुवस्वभाव का लक्ष करके, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष जाननेवाला वह आत्मा है। उसमें इन्द्रियाँ अथवा शुभराग सहायक नहीं। शुभराग उस समय होता है, किंतु उसके कारण आत्मा में ज्ञातापना नहीं है।

अरे जीव! तेरी स्वतंत्रता तूने कभी नहीं सुनी। तीर्थंकर की वाणी में भी तेरे गुणगान पूरे नहीं गाये जा सकते—ऐसा तू है, किंतु संयोग व शुभराग की क्रिया से कल्याण मानकर ठगाया जाता है। व्रत, तप, दया के भावों से आत्मानुभव होगा, ऐसा कोई माने तो वह यथार्थ नहीं। देव, शास्त्र, गुरु आदि पर के आलंबन से अंतर में स्वभाव का माहात्म्य नहीं आता। किसी को प्रश्न हो कि यदि ऐसा है तो मंदिर, मूर्ति व पूजा-भक्ति किसलिये? उसका समाधान—प्रथम भेदज्ञान होने से श्रद्धा-ज्ञान तो सम्यक् होते हैं, किंतु उसी समय चारित्र में पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती। जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक भूमिकानुसार शुभराग होता है; किंतु उसके द्वारा आत्मा का अनुभव हो, ऐसा नहीं है। 'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।' यह लौकिकजनों में पुण्य-पाप की बात है। यहाँ तो कहते हैं कि मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति ही स्व की हिंसा है। त्रिकाल ज्ञातास्वभाव की दृष्टि, उसका ज्ञान व उसमें स्थिरता, वह अहिंसा-स्वदया है। पर की दया के विकल्प आते हैं, किंतु पर तेरे आधीन नहीं है। पर के प्रति करुणा का भाव आये, वह अलग बात है, किंतु उसमें धर्म नहीं होता तथा वह धर्म का कारण भी नहीं है। अगर पर की रक्षा कोई जीव कर सकता हो तो प्रिय पुत्र और पत्नी आदि की मृत्यु क्यों हो जाती है? उनको मृत्यु से क्यों नहीं बचा सकता? प्रभु! तू अपने ज्ञान-अज्ञानमय भाव को कर सकता है, तू पर को नहीं बचा सकता और न कोई दूसरा तेरा कुछ कर सकता।

भगवान आत्मा देह में रहते हुए भी देह से भिन्न आनंदधाम है। अनादि से उसका स्वभाव बेहद ज्ञान-आनंदमय है। अज्ञानी उसको भूलकर पर की आशा के कारण दुःखी हुआ करता है, रागादि तथा शरीर-इन्द्रियों में अपना अस्तित्व मानकर उनका आश्रय करके दुःखी हो रहा है। यदि भेदज्ञान के बल से 'राग-शरीरादि मैं नहीं हूँ; मैं तो पूर्णज्ञाता, अतीन्द्रिय आनंद का धाम हूँ'—ऐसी प्रतीति करके स्वसन्मुख हो तो स्वानुभव प्रत्यक्ष अनुभव से आनंदमूर्ति आत्मा का वेदन होता है।

भाई! तेरा घर तो तेरे पास ही होगा न! लोक में कहते हैं कि—'आत्मा का घर कितनी दूर?—दिया जले उतनी दूर!' उसीप्रकार आत्मा का घर कहाँ है? तो कहते हैं कि अंतर में जो चैतन्य जागृत वस्तु है, वही आत्मा का घर है। आत्मा चैतन्यप्रकाशशक्ति का पुंज है; यदि वहाँ एकाग्रता करे तो अपूर्व शांति का वेदन करनेवाले आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो। आनंद तो आत्मा का गुण है, राग का वेदन आत्मा का गुण नहीं है। बाह्यसाधनरूप व्यवहार की श्रद्धा छोड़ दे, क्योंकि आत्मा तो अलिंगग्राह्य है अर्थात् व्यवहार-निमित्त के आश्रय से वह ज्ञात नहीं होता।

यह अतीन्द्रिय ज्ञायकस्वभाव परिपूर्ण है—ऐसा माहात्म्य करने से अंतर में अपूर्व वेदन सहित जो भावभासन होता है, उसे आत्म-साक्षात्कार-स्वसंवेदन कहा जाता है। जिसे स्वसंवेदन हुआ, उसे मोक्षमार्ग का प्रारंभ हुआ, वह मोक्ष के पंथ पर चलने लगा—ऐसा कहा जाता है।

जो आत्मा को इन्द्रियवान मानता है, उसने आत्मा को माना ही नहीं। निश्चय के बिना व्यवहार का ज्ञान मिथ्या है। आत्मा इन्द्रियों से पर के काम नहीं कर सकता, भले ही कोई भ्रम से ऐसा मानो। भाई! जिनके कारण तू नहीं है, उनसे (राग, व्यवहार, निमित्त से) तेरा साधन नहीं होता तथा उनके बिना तेरा साधन रुकता नहीं है। तू अनादि-अनंत विज्ञानघन प्रत्यक्ष ज्ञाता है। प्रभु! तू देह, इन्द्रियाँ व राग के आश्रय से रहित पूर्ण है। बाह्यमूल्यांकन भूल जा। विकल्पों से पार अकेला ज्ञान-शांतिमय आत्मा है, उसकी महिमा कर। आत्मा अखंड नित्य वस्तु है, श्रद्धा, ज्ञान, सुख, वीर्य आदि सब गुण पूर्ण व अखंड हैं—ऐसा निर्णय करके अंतरोन्मुख हो, उसको भेदज्ञान व सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञाता को आत्मा कहते हैं। विकल्प-राग का आलंबन छोड़कर अंतर्मुख दृष्टि करने से प्रत्यक्ष संवेदन होता है, अतीन्द्रिय आनंदमूर्ति आत्मा प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। इसप्रकार स्वयं अपने को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करना, उसका नाम धर्म है।

आत्मा का लक्षण उपयोग है। जो बाह्य पदार्थों के आलंबन से परिणमन करे, उसको आत्मा का उपयोग नहीं कहते। लक्षण के तीन दोष हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव। लक्ष्य के एक अंश में (किसी समय) व्याप्त हो, उस लक्षण को अव्याप्ति दोषवाला कहते हैं, जैसे—जीव का लक्षण रागादि अथवा केवलज्ञान। अतिव्याप्ति—लक्ष्य में तथा दूसरे में भी व्याप्त हो, जैसे—जीव को अमूर्तिक मानने से आकाशादि अजीवद्रव्य में वह लक्षण चला जाता है। असंभव दोष—जैसे कि देह को आत्मा मानना; आत्मा पर का कुछ कर सके, यह असंभव

लक्षण है। इस लक्षण से आत्मा की पहिचान नहीं होती। आत्मा का उपयोग ज्ञाता-दृष्टारूप है। परनिमित्त के आलंबन से जाने, उसको आत्मा का उपयोगलक्षण नहीं कहते। परलक्षी ज्ञान को आत्मा का उपयोग नहीं मानते। भगवान एक समय में परिपूर्ण आनंदकंद है। पराश्रय से काम करे वह आत्मा का लक्षण नहीं है। इन्द्रियाँ, देव, शास्त्र, गुरु, सम्मेदशिखर आदि सब परज्ञेयरूप हैं, उनका जो अवलंबन करे, उस ज्ञान को आत्मा का उपयोग नहीं कहते; क्योंकि उससे आत्मा का स्वरूप नहीं जाना जाता। ज्ञानी को भी जब तक राग हो, तब तक सच्चे देव, शास्त्र, गुरु के प्रति राग आता है, किंतु उसे वे अपना स्वरूप नहीं मानते, हितकर नहीं मानते।

आत्मा का सत्य स्वरूप समझे बिना अनंत-अवतार व्यर्थ गये, कुत्ते के पिल्लों और चींटियों की भाँति मृत्यु हुई। बाह्य में दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रतादि में आत्मा का धर्म मानकर क्रियाकांड के झंझट में पड़कर आत्मा के परमात्मपने को भूल गया। ग्यारह अंग, नव पूर्व का ज्ञान भी परावलंबी ज्ञान है, उससे अंतर का उपयोग प्रगट नहीं होता। चैतन्य की जागृति को उत्पन्न न होने दे, उसको आत्मसंपदा आत्मा का उपयोग नहीं कहते।

देहादि, स्त्री-धनादि तथा देवादि परपदार्थों में उपयोग लगाये तथा उन्हें हितकारी माने उसको आत्मा की व उसके लक्षण की प्रतीति नहीं। यह समझे बिना छुटकारा नहीं; इसे समझने पर ही उद्धार हो सकता है; उसका दूसरा कोई उपाय नहीं। तेरे अंतर में जानने की क्रिया है; परालंबनरूप ज्ञान को आत्मा का उपयोग नहीं कहते; पराश्रय से विमुख होकर स्वसन्मुख हो, उसे उपयोग कहते हैं।

उपयोग तेरे आत्मा का है, वह पर का अवलंबन करे तो उसे उपयोग नहीं कहते, क्योंकि उसने पर के साथ संधि की ओर स्व की संधि को तोड़ा। अंतर में झुककर स्वसन्मुखता करे, उसको उपयोग कहते हैं। आत्मा को छोड़कर शास्त्रों में भटकनेवाली बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा है। शुभ विकल्प के समय परज्ञेय का आलंबन होता है।

प्रश्नः—शास्त्र न पढ़े, उनमें उपयोग न लगाये, तो ज्ञान कैसे होगा?

समाधानः—जिज्ञासा व राग के समय शास्त्र का अवलंबन होता है, किंतु उसे स्वावलंबी ज्ञान नहीं कहते। स्वरूप को समझने या विशेष ज्ञान की निर्मलता के लिये शास्त्र पढ़ने का विकल्प उठे, यह बात अलग है, किंतु जो उसमें संतोष मान लेते हैं, उन्हें यह समझना

आवव्यक्त है। सत्य श्रवण छोड़कर पाप का आलंबन करने की यह बात नहीं है, किंतु शास्त्रादि परज्ञेय-सन्मुख ज्ञान से अंतर्मुख नहीं हुआ जाता।

जिसने परनिमित्त के लक्ष्य में ज्ञान को जोड़ दिया है, वह ऐसा मानता है कि इससे धीरे-धीरे धर्म होगा; उसकी यह मान्यता विपरीत है; वह आत्महित क्या है, उसे नहीं जानता। श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि जो शास्त्रों में ही बुद्धि को भ्रमाता है, उसको अंतर में आत्मा का अनुभव कराने के लिये उसका निषेध किया है, किंतु बिल्कुल निषेध करना तो बड़ा अविवेक है, उससे तो पाप के परिणाम होंगे। शुभ का निषेध करने का हेतु स्व में लीनता कराने का है; सम्यग्दर्शन का मूल विषय समझाना है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है, तथापि श्रद्धा में पहले से ही पुण्य का निषेध है। उसका आलंबन छोड़कर स्वरूप में एकाग्र होने के लिये यह उपदेश है। निज आत्महित में झुकाव नहीं है, ऐसे पंडित को आचार्यदेव ने कहा है कि पंडितों का संसार शास्त्र है। मन-इन्द्रियों के अवलंबन सहित ज्ञान आत्मा का नहीं है, किंतु जो अखंडस्वभावी आत्मा में लीन हो, वह आत्मा का ज्ञान-उपयोग है।

भगवान महावीर ने ऐसा पुरुषार्थ किया, इसलिये उनका मंगलमय कल्याणक मनाया जाता है, पूर्णदशा पूर्ण स्वभाव के अवलंबन से प्रगट हुई, वह नित्यस्थायी रहेगी, उसका अब कभी अंत नहीं आयेगा। पर के लक्ष से विकार में रुकता था, उसका नित्यस्वभाव के आश्रय से अंत आ जाता है। अंतर्मुखदृष्टि एवं स्थिरता अखंड हो जाने पर उसमें मलिनता कभी उत्पन्न नहीं होगी। देव, शास्त्र, गुरु, छह द्रव्य, नवतत्त्व आदि की ओर का उपयोग, सो व्यवहार है, वे सब निश्चय से आदरणीय नहीं हैं। श्रद्धा में या चारित्र में उनका आश्रय करने से लाभ होता है—ऐसा ज्ञानी कभी नहीं मानते। मात्र एक स्वद्रव्यस्वभाव के अवलंबन से कार्य करे, उसी को आत्मा का उपयोग कहा गया है।

सच्ची कमाई

दया-दान-पूजा-शील पूंजी सों अजानपने,
जितनो हस तू अनादिकाल में कमायेगो;
तेरे बिन विवेक की कमाई न रहे हाथ,
भेदज्ञान बिना एक समय में गमायेगो।
अमल अखंडित स्वरूप शुद्ध चिदानंद,
याके वणजमांही एक समय जो रमायेगो;
मेरी समझ मान जीव अपने प्रताप आप,
एक समय की कमाई तू अनंतकाल खायेगो॥

हे जीव! हे चैतन्य हंस! अज्ञानभाव से अनादि काल में तू दया-दान-पूजा-शील वगैरह की जो पूंजी कमायेगा, वह बिना विवेक की पूंजी तेरे हाथ में नहीं रहेगी, भेदज्ञान के बिना एक क्षण में वह सारी कमाई तू गँवा देगा।

और, यदि तू अमल-अखंड शुद्ध चिदानंदस्वरूप के व्यापार में एक समय भी अपना उपयोग लगायेगा तो उसके प्रताप से एक समय में इतनी कमाई होगी कि अनंत काल तक खायेगा, तब भी वह कम नहीं; होगी इसलिये तू मेरी शिक्षा मान और चिदानंदस्वरूप में अपने उपयोग को लगा।

—'रत्नसंग्रह'

विविध समाचार

मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल की प्रगति के समाचार

मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल के तत्त्वावधान में सत् वीतरागमार्ग की प्रभावना का काफी प्रचार मार्च सन ७१ में हुआ है, जिसमें से कुछ विशेष समाचार हम मुमुक्षुओं की प्रेरणा हेतु दे रहे हैं।

(१) ललितपुर (उ.प्र.)—दिनांक ४-३-७१ से ११-३-७१ तक समाज के विशेष आग्रह पर श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियर से पधारकर ८ दिन तक क्लास व प्रवचन के रूप में चार टाइम प्रतिदिन कार्यक्रम बड़ी सफलता के साथ पूर्ण किया, सिसे समाज में विशेष जागृति हुई।

(२) सोनागिर सिद्धक्षेत्र (म.प्र.)—यहाँ दिनांक १२-३ से १६-३-७१ तक प्रति वर्ष के अनुसार हजारों मुमुक्षु मेले के रूप में एकत्रित हुये, जिसमें प्रतिदिन श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियरवालों का प्रवचन होता था, इसके अतिरिक्त दोपहर में श्री पंडित मोतीलालजी आरौन ने शिक्षण के रूप में कक्षाएँ लेकर अच्छी धर्म-प्रभावना की। अंतिम दिनों में १६ वे १७-३-७१ को श्री पंडित ज्ञानचंद जैन विदिशावालों के आध्यात्मिक प्रवचनों से बाहर के कई व्यक्तियों ने अच्छी संख्या में अपूर्व लाभ लिया। यहाँ और भी विशेष प्रभावना की आवश्यकता है।

(३) जसवंतनगर (उ.प्र.)—यहाँ जैन समाज की ओर से श्री सिद्धचक्र मंडल विधान व शिक्षण शिविर दिनांक ४-३ से १४-३-७१ तक हुआ, जिसमें दो दिन श्री पंडित नेमीचंदजी पाटनी आगरावालों ने तथा ४ दिन श्री पंडित ज्ञानचंद जैन विदिशा द्वारा आध्यात्मिक प्रवचन हुये, जिससे समाज में उत्तम धर्मप्रभावना हुई तथा इतनी छोटी समाज होते हुये भी करीबन ५०००) की जिन मंदिर में रकम एकत्रित हुई, विधान श्री पंडित बाबूलालजी अशोकनगर के सानिध्य में सानंद संपन्न हुआ। इसके पश्चात समाज के विशेष आग्रह पर दिनांक २३ से २६-३-७१ तक श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियरवालों ने पधारकर समाज में नई चेतना के द्वारा आत्म-जागृति कराई।

(४) ग्वालियर (म.प्र.)—ग्वालियर नगर के अष्टाह्निका पर्व में श्री सिद्धचक्र मंडल

विधान के अवसर पर श्री पंडित नेमीचंदजी पाटनी आगरा के द्वारा आध्यात्मिक प्रवचन तथा शिक्षण के द्वारा समाज ने काफी आत्मलाभ लिया तथा स्थानीय विद्वान श्री कपूरचंदजी वरैया, श्री महेन्द्रकुमारजी, श्री सागरमलजी बड़जात्या आदि के द्वारा समाज को काफी लाभ होकर विशेष जागृति हुई। तत्पश्चात् दिनांक २३-३-७१ से २७-३-७१ तक श्री राजमलजी बी.काम. भोपाल तथा श्री पंडित प्रकाश हितैषी दिल्ली के आध्यात्मिक प्रवचनों से ओतप्रोत होकर दिनांक २७-३-७१ को लश्कर में एक महिला मंडल की स्थापना होकर स्वाध्याय में विशेष प्रगति होना प्रारंभ हो गई है।

(५) मंदसौर (म.प्र.)—अष्टाह्निका पर्व के सुअवसर पर श्रीयुत पंडित फूलचंदजी शास्त्री बनारस द्वारा अपने अध्ययन तथा अनुभव के मार्मिक आध्यात्मिक प्रवचनों के द्वारा समाज में काफी लाभ पहुँचा है व विशेष चेतना आई है, अभी और प्रगति के लिये यहाँ से प्रेरणा कर रहे हैं।

(६) भिण्ड (म.प्र.)—श्रीयुत पूज्य ब्रह्मचारी हेमराजजी द्वारा दिनांक २-३ से १३-३-७१ तक श्रीयुत प्यारेलालजी के द्वारा होनेवाले श्री सिद्धचक्र मंडल विधान व शिक्षण शिविर में समाज ने बड़ी भारी संख्या में उपस्थित होकर धर्मलाभ लिया।

(७) अतिशयक्षेत्र चांदखेड़ी (म.प्र.)—समाज के विशेष आग्रह पर मेला के सुअवसर पर दिनांक १७-३-७१ से २२-३-७१ तक श्रीयुत पंडित धन्नालालजी ग्वालियर, श्री पंडित युगलकिशोरजी कोटा तथा श्री नेमीचंदभाई रखियालवालों के द्वारा मेले की अपार भीड़ में हजारों मुमुक्षुओं ने अपूर्व आत्मलाभ प्राप्त किया व कई नये तत्त्वजिज्ञासु बने, भले प्रकार से धर्म-प्रभावना हुई।

(८) शिवपुरी (म.प्र.)—श्री पंडित गोविन्दरामजी खडेरी ने दिनांक २३ से २८-३-७१ तक अपने सुंदर, सरस व आध्यात्मिक प्रवचनों के द्वारा समाज को काफी लाभ पहुँचाया है तथा दिनांक २६-३-७१ तक बड़ामलहरा में शिक्षण की कक्षायें लेकर नई चेतना लाये हैं।

(९) भोपाल (म.प्र.)—दिनांक २१ मार्च ७१ को श्री ऋषभ जयंती का प्रोग्राम बड़े हर्ष के साथ मनाया गया, रात्रि को स्थानीय अनेक वक्ताओं के अध्यात्मरस रोचक, सत् धर्म के अनुसार प्रवचन हुए। आचार और विचार बनाने पर जोर दिया गया, इस दिन यहाँ समाज में विशेष प्रभावना हुई।

(१०) राघोगढ़ (म.प्र.)—अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर श्री सिद्धचक्र मंडल विधान व शिक्षण शिविर में स्थानीय वक्ताओं द्वारा काफी प्रभावना हुई तत्पश्चात् ४ दिन श्री पंडित नेमीचंदभाई रखियालवालों के द्वारा आध्यात्मिक प्रवचनों से समाज ने काफी लाभ प्राप्त किया।

(११) वैरसिया (म.प्र.)—म.प्र. मुमुक्षु मंडल में हुये निर्णय के अनुसार म.प्र. मुमुक्षु मंडल के मंत्री श्री डालचंदजी सर्राफ भोपाल, तथा भोपाल स्थानीय मुमुक्षु मंडल के मंत्री डॉ. कपूरचंद कौशल आदि ने पधारकर समाज में आध्यात्मिक प्रवचनों के द्वारा १ दिन रहकर विशेष प्रभावना की, व प्रति माह से कम से कम १ दिन अनेक नये-नये स्थानों पर जाकर धर्म-प्रचार करने का निर्णय लिया है।

(१२) इटावा (उ.प्र.)—जसवंतनगर से लौटते समय श्री पंडित ज्ञानचंद जैन की बढ़ती हुई रुचि देखकर श्री पूज्य ब्रह्मचारी हेमराजजी ६ माह से बड़ी धर्म-प्रभावना कर रहे हैं। रुचि हो जाने के फलस्वरूप अनेक विद्वानों के समागम का लाभ इटावा समाज को होना प्रारंभ हो गया है, दिनांक ३० व ३१-३-७१ को श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियरवालों ने पधारकर अपनी अमृत-वाणी के द्वारा वहाँ की समाज को ज्ञान-वैराग्य का रस पिलाया।

मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल ने यह निर्णय लिया है कि सभी मंडल आत्मधर्म का चंदा भेजने के साथ कम से कम ५ नये आत्मधर्म के नये ग्राहक बनाकर हमें सूचित करें। विद्वानों का यह प्रोग्राम विदिशा से कम से कम एक माह पूर्व सेट हो जाता है, इसलिये मंडलों अथवा समाज की ओर से किसी भी विद्वान को बुलाने के लिये हमें काफी समय पूर्व पत्र प्राप्त होना आवश्यक है, हमारे पास यथासमय ही काफी तार तथा फोन आते हैं, जिससे मंडल में कुछ बाधा हो जाती है।

इस ज्ञान वैराग्य के प्रचार व प्रसार में प्रत्येक जीव का सत् धर्म के अनुसार यथार्थ योग्य आचार व विचार हो, इस हेतु म.प्र. मुमुक्षु मंडल निरंतर प्रयत्नशील है, केवल एकमात्र यही उद्देश्य है, इस सत्, उत्तम कार्य में सभी का सहयोग वांछनीय है। हमें मध्यप्रदेश के काफी मंडलों से माँगी गई जानकारी प्राप्त हो गई है। परंतु जिनने हमें हमारे प्रपत्र के अनुसार अभी तक न भेजी हो, वह शीघ्र भेज देवें। यदि कोई नवीन उत्तम सुझाव हो तो समय-समय पर वह भी भेजकर हमारे सत् प्रचार को बढ़ावें। मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल की सभी मुमुक्षु भाइयों से अपील है कि दिनांक १५-५-७१ से ४-६-७१ तक जयपुर में होनेवाले शिक्षण तथा प्रशिक्षण शिविर

में पूज्य कानजीस्वामी के अपूर्व आध्यात्मिक, वैराग्यरस घोलनेवाले, हित, मित, प्रिय अमृतरूपी प्रवचनों का लाभ लेकर अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयास करें।

ज्ञानचंद जैन, प्रचार मंत्री
मध्यप्रदेशीय मुमुक्षु मंडल, विदिशा (म.प्र.)

❀ ❀ ❀

श्री ब्रह्मचारी दुलीचंदजी का स्वर्गवास

श्री ब्रह्मचारी दुलीचंदजी तारीख २० दिन से बड़नगर पधारे हुए थे। आपका नित्य तीनों समय आध्यात्मिक प्रवचन होता था। जिससे अनेक स्त्री-पुरुष धर्मलाभ लेते थे। दिनांक २२-३-७१ को प्रातः आपने नौ बजे तक शास्त्र-प्रवचन किया, पश्चात् भोजन किया; भोजन से आने के बाद ही आपने हपने हाथ से अपने कपड़े धोये; पश्चात् आप कपड़े बदलकर मध्याह्न की सामायिक में बैठने लगे। बैठते ही बैठते आपकी हृदय-गति रुक गई और वही आपका स्वर्गवास हो गया। यह खबर सारे नगर में फैल गई; नगर के प्रमुख बाजार उसी समय बंद हो गये और सब समाज के स्त्री-पुरुष सैकड़ों की तादाद में जहाँ बड़े मंदिरजी के पासवाले कमरे में ब्रह्मचारी ठहरे थे, एकत्रित हो गये। लगभग दिन के ढाई बजे आपकी शवयात्रा का जुलूस, समारोह सहित नगर के प्रमुख रास्तों से (जिसमें सभी स्त्री-पुरुष आध्यात्मिक स्तुति व भजन गाते हुए चल रहे थे) श्री दिगम्बर जैन पारसनाथ बगीचे में पहुँचा और वही आपका दाह-संस्कार किया गया। रात्रि को स्थानीय बड़े मंदिर में एक शोक-सभा हुई। जिसमें अनेक वक्ताओं के उनके जीवन पर भाषण हुये व श्रद्धांजली अर्पित की गई। आप बालब्रह्मचारी व सरल स्वभावी थे, आपका प्रवचन अधिकतर आध्यात्मिक विषय पर ही होता था; आप वर्षों तक इंदौर उदासीन आश्रम के अधिष्ठाता पद पर रहे हैं। *फूलचंद अजमेरा, महामंत्री*
दिगम्बर जैन मालवा प्रा. सभा, बड़नगर (म.प्र.)

विशेषः—स्व. श्री ब्रह्मचारी दुलीचंदजी के दस हजार रुपये श्री एन.सी. जबेरी एण्ड कम्पनी बम्बई में जमा थे। रुपयों की व्यवस्था के संबंध में ब्रह्मचारीजी अपने स्वर्गवास के कुछ दिन पूर्व लिख गये हैं कि इस आयु का कोई भरोसा नहीं, न जाने कब पूर्ण हो जाये। इसलिये मेरे जो रुपये आपके यहाँ जमा हैं, उनसे मेरी मृत्यु के बाद साधर्मी भाई-बहिनों को आर्थिक

सहायता दी जाये तथा पुस्तक-प्रकाशन में उन रुपयों का उपयोग किया जाये। ब्रह्मचारीजी ने लिखा है कि श्री ब्रह्मचारी गुलाबचंदजी जैन सोनगढ़ तथा श्री पंडित हिम्मतलाल छोटालाल शाह बम्बई की इच्छानुसार पुस्तक-प्रकाशन आदि की योजना बनायी जाये।

❀ ❀ ❀

श्री अष्टपाहुड़—ग्रंथ अब तैयार है, मूल्य ४-६५ पैसे रखा गया है। जिन्हें मँगवाना हो वे निम्न पते पर लिखें:—

कमल प्रिन्टर्स

पो. मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

धर्म की क्रिया—तैयार हो चुकी है, पृष्ठ संख्या २६२; मूल्य १.६० पैसे है। श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ तथा श्री टोडरमल स्मारक भवन जयपुर से भी मिल सकती है।

❀ ❀ ❀

आत्मधर्म का वार्षिक चन्दा

— विज्ञप्ति —

आत्मधर्म (हिन्दी) का नया वर्ष वैशाख महीने से प्रारंभ हो रहा है। वार्षिक चंदा ३) तीन रुपया है। कृपया आगामी वर्ष का चंदा हमें मनीआर्डर से भिजवा दें। संस्था की ओर से वी.पी. नहीं की जाती। यदि आप आत्मधर्म वी.पी. से मँगवाना चाहें तो हमें सूचित करें।

जिन भाइयों के रुपये हमारे यहाँ जमा हैं, उन्हें एक कार्ड लिखा जायेगा और उनकी स्वीकृति मिलने पर वह रुपये 'आत्मधर्म का चंदा' रूप में ले लिये जायेंगे।

मुमुक्षु मंडलों से निवेदन है कि वे अपने नगर के ग्राहकों का चंदा एकत्रित करके उनके पूरे पते सहित हमें भिजवा देवें। चंदे की रकम ड्राफ्ट द्वारा भिजवायें।

चंदा भेजनेवाले ग्राहकों से निवेदन है कि अपना पूरा पता स्पष्ट अक्षरों में लिखें जिससे आत्मधर्म नियमित मिलता रहे। चंदा भेजते समय सूचति करें कि आप नये ग्राहक हैं या पुराने। यदि पुराने ग्राहक हैं तो नंबर भी अवश्य लिखें। आशा है हमें आपका पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

पता — श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

धर्मी का ध्येय

हे जीव! तुझे आत्मा को ध्येय बनाकर आनंद की प्राप्ति करना हो तो क्या करना चाहिये—वह संत तुझे बतलाते हैं।

राग को ध्येय में न लेकर स्वतत्त्व ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप को ध्येय बनाकर उसमें अपना लक्ष कर। अपने स्वतत्त्व के अभ्यास का मार्ग तूने कभी नहीं लिया, अकेला पर का और राग का ही अभ्यास तूने किया है। अब उसकी दिशा बदलकर स्वतत्त्व को ध्येय बनाने की यह बात है।

धर्मी जीव ने अपना ध्येय बदल दिया है; परध्येय छोड़कर ज्ञानानंदमूर्ति निजात्मा को ध्येय बनाया है। ज्ञानचेतना को अंतर्मुख किया है। देखो, धर्मी की ज्ञानचेतना अंतर में आत्मा को चेतने का (अनुभवने का) कार्य करती है। बाह्य ज्ञातृत्व का विकास कम-अधिक होना, वह कहीं ज्ञानचेतना का कार्य नहीं है; ज्ञानचेतना तो अंतर्मुख कार्य करती है; वह आत्मा को लक्ष बनाती है। अंतर्मुख ज्ञानचेतना द्वारा धर्मी ने आत्मानंद का भंडार खोल दिया है और उसी को ध्येय बनाया है। धर्मी की दृष्टि नित्य निजात्मा को ही स्पर्श करती है, राग को स्पर्श नहीं करती। स्पर्श करती है अर्थात् वेदन करती है, अनुभव करती है, एकता करती है। पहले अज्ञानदशा में विकार का ही वेदन करता था, उसी को आत्मारूप मानता था; उसके बदले अब ध्येय को बदल दिया और ज्ञानचेतना द्वारा विकार से पार ऐसे शुद्धात्मा का वेदन किया, उसी को निजस्वरूप जाना, उसी को ध्येय बनाया।

देखो, यह धर्मी का ध्येय!

हे जीव! तुझे आनंद की प्राप्ति करना हो तो तू भी अपने ऐसे आत्मा को ध्येय बना!

आत्मा का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	" " " भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	शास्त्र का अर्थ समझने की पद्धति	०.१०
१७	श्रावक धर्मप्रकाश	२.००
१८	अष्ट-प्रवचन (भाग-१)	१.५०
१९	अष्ट-प्रवचन (भाग-२)	१.५०
२०	मोक्षमार्गप्रकाशक	२.५०
२१	पं. टोडरमलजी स्मारिका विशेषांक	१.००
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२४	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२६	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
२७	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-३	०.६५
	छह पुस्तकों का कुल मूल्य	३.२५
२८	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२९	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
३०	मंगल तीर्थयात्रा (सचित्र)	६.००
३१	मोक्षमार्गप्रकाशक ७वाँ अध्याय	०.५०
३२	जैन बालपोथी भाग-२	०.४०
३३	अष्टपाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) पं. जयचंदजीकृत भाषावचनिका	प्रेस में
३४	तत्त्वनिर्णय	०.२०
३५	शब्द-कोष	०.२०
३६	हितपद संग्रह (भाग-२)	०.७५

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)